अनेकान्त

अप्रैल १९५४

सम्पादक-मण्डल
श्रीजुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर'
बा० छोटेलाल जैन M. R. A. S.
बा० जय भगवान जैन एडवोकेट
पण्डित धर्मदेव जैतली
पं० परमानन्द शास्त्री

अनेकान्त वर्ष १२
किरण ११

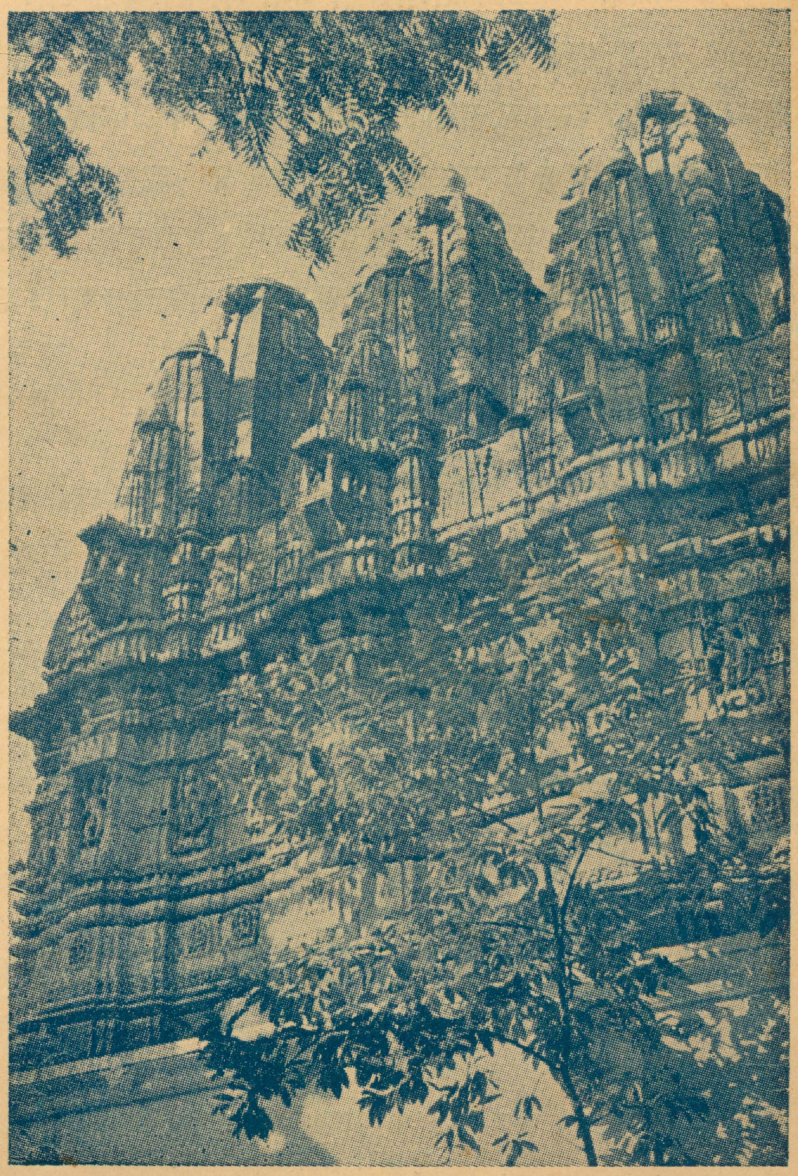

केशरिया जी (उदयपुर) का प्रसिद्ध कलापूर्ण दिगम्बर जैन मन्दिर

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

विषय-सूची

१ चिन्तामणि-पार्श्वनाथ-स्तवन—[सोमसेन ३२९
२ मूलाचारकी मौलिकता और उसके रचयिता—
[पं० हीरालालजी सिद्धान्त शास्त्री ३३०
३ आर्य और द्रविड़ संस्कृतिके सम्मेलनका उपक्रम—
[बा० जयभगवानजी एडवोकेट ३३५
४ युगपरिवर्तन (कविता)—
[मनु 'ज्ञानार्थी' साहित्यरत्न ३४२
५ वैभवकी शृङ्खलाएँ (कहानी)—
[मनु 'ज्ञानार्थी' साहित्यरत्न ३४३
६ धर्म और राष्ट्रनिर्माण—[आचार्य तुलसी ३४५
७ बंकापुर—[पं० के० भुजबलीजी शास्त्री ३५३
८ मूलाचार संग्रहग्रन्थ न होकर आचाराङ्गके रूपमें मौलिक ग्रन्थ है—[पं० परमानन्द शास्त्री ३५५
९ विविध विषय महावीर जयन्ती आदि ३६०

समाजसे निवेदन

'अनेकान्त' जैन समाजका एक साहित्यिक और ऐतिहासिक सचित्र मासिक पत्र है। उसमें अनेक खोज पूर्ण पठनीय लेख निकलते रहते हैं। पाठकोंको चाहिये कि वे ऐसे उपयोगी मासिक पत्रके ग्राहक बनकर, तथा संरक्षक या सहायक बनकर उसको समर्थ बनाएं। हमें केवल दो सौ इक्यावन तथा एक सौ एक रुपया देकर संरक्षक व सहायक श्रेणीमें नाम लिखाने वाले दो सौ सज्जनोंकी आवश्यकता है। आशा है समाजके दानी महानुभाव एक सौ एक रुपया प्रदानकर सहायकश्रेणीमें अपना नाम अवश्य लिखाकर साहित्य-सेवामें हमारा हाथ बंटायंगे।

मैनेजर—'अनेकान्त'
१ दरियागंज, देहली.

विवाहमें दान

अमृतसर निवासी ला० मुन्नीलालजी जैनने अपने सुपुत्र चि० दर्शनकुमारके विवाहोपलक्ष्यमें १०१) रु० दानमे दिये हैं।

—जयकुमार जैन

अनेकान्तको सहायताके सात मार्ग

(१) अनेकान्तके 'संरक्षक'-तथा 'सहायक' बनना और बनाना।
(२) स्वयं अनेकान्तके ग्राहक बनना तथा दूसरों को बनाना।
(३) विवाह-शादी आदि दानके अवसरों पर अनेकान्तको अच्छी सहायता भेजना तथा भिजवाना।
(४) अपनी ओर से दूसरोंको अनेकान्त भेंट-स्वरूकर अथवा फ्री भिजवाना; जैसे विद्या-संस्थाओं लायब्रेरियों, सभा-सोसाइटियों और जैन-अजैन विद्वानों।
(५) विद्यार्थियों आदिको अनेकान्त अर्ध मूल्यमें नेके लिये २५), ५०) आदिकी सहायता भेजना। २५ की सहायतामें १० को अनेकान्त अर्धमूल्यमें भेजा जा सकेगा।
(६) अनेकान्तके ग्राहकोंको अच्छे ग्रन्थ उपहारमें देना तथा दिलाना।
(७) लोकहितकी साधनामें सहायक अच्छे सुन्दर लेख लिखकर भेजना तथा चित्रादि सामग्रीको प्रकाशनार्थ जुटाना।

नोट—दस ग्राहक बनानेवाले सहायकोंको 'अनेकान्त' एक वर्ष तक भेंट-स्वरूप भेजा जायगा।

सहायतादि भेजने तथा पत्रव्यवहारका पता:—
मैनेजर 'अनेकान्त'
वीरसेवामन्दिर, १, दरियागंज, देहली।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ॐ अर्हम्

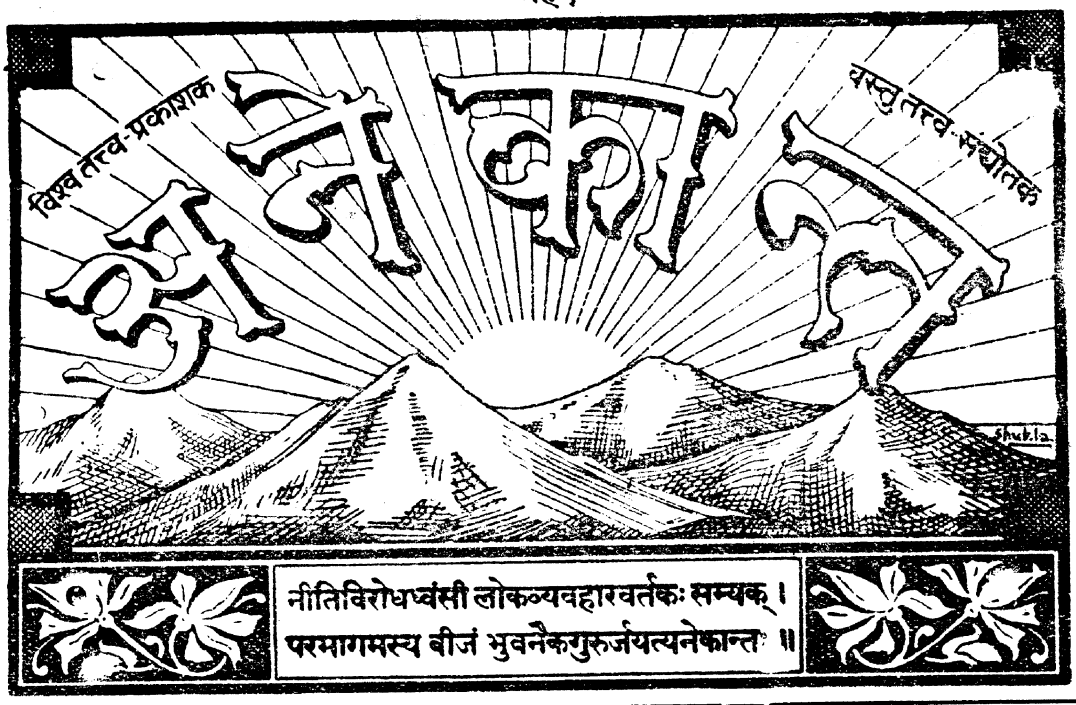

वार्षिक मूल्य ६)

एक किरण का मूल्य ।।)

वर्ष १२ किरण ११ | वीरसेवामन्दिर, १ दरियागंज, दहली | चैत्र वीर नि० संवत् २४८०, वि० संवत् २०११ | अप्रैल १९५४

सोमसेन-विरचितम्

चिन्तामणि-पार्श्वनाथ-स्तवनम्

श्रीशारदाऽऽधारमुखारविन्दं सदाऽनवद्यं नतमौलिपादम् ।
चिन्तामणिं चिन्तितकामरूपं पार्श्वप्रभं नौमि निरस्तपापम् ।।१।।
निराकृतारातिकृतान्तसङ्गं सन्मण्डलीमण्डितसुन्दराङ्गम् ।
चिन्तामणिं चिन्तितकामरूपं पार्श्वप्रभुं नौमि निरस्तपापम् ।।२।।
शशिप्रभा-रीतियशोनिवासं समाधिसाम्राज्यसुखावभासम् ।
चिन्तामणिं चिन्तितकामरूपं पार्श्वप्रभुं नौमि निरस्तपापम् ।।३।।
अनल्पकल्याणसुधाब्धिचन्द्रं सभावलीसून-सुभाव-केन्द्रम् ।
चिन्तामणिं चिन्तितकामरूपं पार्श्वप्रभुं नौमि निरस्तपापम् ।।४।।
करालकल्पान्तनिवारकारं कारुण्यपुण्याकर-शान्तिसारम् ।
चिन्तामणिं चिन्ततकामरूपं पार्श्वप्रभुं नौमि निरस्तपापम् ।।५।।
वाणीरसोल्लासकरीरभूतं निरञ्जनाऽलंकृतमुक्तिकान्तम् ।
चिन्तामणिं चिन्तितकामरूपं पार्श्वप्रभुं नौमि निरस्तपापम् ।।६।।
क्रूरोपसर्गं परिहर्तुमेकं वाञ्छाविधानं विगताऽपसङ्गम् ।
चिन्तामणिं चिन्तितकामरूपं पार्श्वप्रभुं नौमि निरस्तपापम् ।।७।।
निरामयं निर्जितवीरमारं जगद्धितं कृष्णपुरावतारम् ।
चिन्तामणिं चिन्तितकामरूपं पार्श्वप्रभुं नौमि निरस्तपापम् ।।८।।
अविरलकविलक्ष्मीसेनशिष्येन लक्ष्मी-विभरणगुणपूतं सोमसेनेन गीतम् ।
पठति विगतकामः पार्श्वनाथस्तवं यः सुकृतपदनिधानं स प्रयाति प्रधानम् ।।९।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

मूलाचारकी मौलिकता और उसके रचयिता

(श्री पं० हीरालाल जी सिद्धान्तशास्त्री)

'मूलाचार'—जैन साधुओंके आचार-विचारका निरूपण करने वाला एक बहुत ही महत्वपूर्ण एवं प्रामाणिक ग्रंथ है, जिसे दिगम्बर-सम्प्रदायका आचारांगसूत्र माना जाता है और प्रत्येक दिगम्बर जैन साधु इसके अनुसार ही अपने मूलोत्तर गुणोंका आचरण करता है।

मूलाचारके कर्त्ता 'वट्टकेराचार्य माने जाते हैं, पर उनकी स्थिति अनिर्णीत या संदिग्धसी रहनेके कारण कुछ विद्वान् इसे एक संग्रह ग्रन्थ समझते हैं और इसी लिये मूलाचारकी मौलिक गाथाओंको ग्रन्थान्तरोंमें पाये जाने मात्रसे वे उन्हें वहाँसे लिया हुआ भी कह देते हैं। श्वेताम्बर विद्वान् प्रज्ञाचक्षु पं० सुखलालजी सन्मति-प्रकरणके द्वितीय संस्करणकी अपनी गुजराती प्रस्तावनामें लिखते हैं:—

'दिगम्बराचार्य वट्टकेरकी मानी जाने वाली कृति 'मूलाचार' ग्रंथका बारीक अभ्यास करनेके बाद हमें खातरी हो गई है कि वह कोई मौलिक ग्रन्थ नहीं है, परन्तु एक संग्रह है। वट्टकेरने सन्मतिकी चार गाथएँ (२,४०-३) मूलाचारके समयसाराधिकार (१० ८७-९०) में ली हैं, इससे अपन इतना कह सकते हैं कि यह ग्रंथ सिद्धसेनके बाद संकलित हुआ है।"

इसी प्रकार कुछ दिगम्बर विद्वान् भी ग्रन्थकर्त्तादिकी स्थिति स्पष्ट न होनेसे इसे संग्रह ग्रन्थ मानते आ रहे हैं, जिनमें पं० परमानन्दजी शास्त्रीका नाम उल्लेखनीय है। जिन्होंने अनेकान्त वर्ष २ किरण ५ में 'मूलाचार संग्रह ग्रन्थ है' इस शीर्षकसे एक लेख भी प्रगट किया है और उसके अन्तमें लेखका उपसंहार करते हुए लिखा है:—

"इस सब तुलना और ग्रन्थके प्रकरणों अथवा अधिकारोंकी उक्त स्थिति परसे मुझे तो यही मालूम होता है कि मूलाचार एक संग्रह ग्रन्थ है और उसका यह संग्रहत्व अथवा सकलन अधिक प्राचीन नहीं है, क्योंकि टीकाकार वसुनन्दीसे पूर्वके प्राचीन साहित्यमें उसका कोई उल्लेख अभी तक देखने तथा सुननेमें नहीं आया।"

उपरि-लिखित दोनों उद्धारणोंसे यह स्पष्ट है कि ये विद्वान् इसे संकलित और अर्वाचीन ग्रंथ मानते हैं।

पं० परमानन्दजीने 'मूलाचार' को अधिक प्राचीन न माननेमें युक्ति यह दी है कि टीकाकार वसुनन्दीसे पूर्वके प्राचीन साहित्यमें उसका कोई उल्लेख अभी तक देखने व सुननेमें नहीं आया। यह लेख आपने ८-१-३८ में लिखा था इसलिए बहुत संभव है कि तब तकके आपके देखे हुए ग्रन्थोंमें इसका कोई उल्लेख आपको प्राप्त न हुआ हो। पर सन् १९३८ के बाद जो दि० सम्प्रदायके षट्खंडागम, तिलोयपण्णत्ती आदि प्राचीन ग्रन्थ प्रकाशमें आए हैं, उन तकमें इस मूलाचारके उल्लेख मिलते हैं। पाठकोंकी जानकारीके लिए यहाँ उक्त दोनों ग्रन्थोंका एक-एक उल्लेख दिया जाता है:—

(१) षट्खण्डागम भाग ४ के पृष्ठ ३१६ पर धवला टीकाकार आचार्य वीरसेन अपने मतकी पुष्टि करते हुए लिखते हैं:—

'तह आयारंगे वि उत्तं—

पंचत्थिकाया य छज्जीवणिकायकालदव्वमण्णे य।
आणागेज्झे भावे आणाविचएण विचिणादि ॥'

यह गाथा मूलाचार (५,२०२) में ज्योंकी त्यों पाई जाती है। इस उल्लेखसे केवल मूलाचारकी प्राचीनताका ही पता नहीं चलता, बल्कि वीरसेनाचार्यके समयमें वह 'आचारांग' नामसे प्रसिद्ध था, इसका भी पता चलता है। आ० वीरसेनकी धवला टीका शक सं० ७३८ में बन कर समाप्त हुई है।

(२) दूसरा उल्लेख धवलाटीकासे भी प्राचीन ग्रन्थ तिलोयपण्णत्तीमें मिलता है, जो कि यतिवृषभकी बनाई हुई है और जिनके समयको विद्वानोंने पाँचवीं शताब्दी माना है। तिलोयपण्णत्तीके आठवें अधिकारकी निम्न दो गाथाओंमें देवियोंकी आयुके विषयमें मतभेद दिखाते हुए यतिवृषभाचार्य लिखते हैं:—

पलिदोवमाणि पंच य सत्तारस पंचवीस पण्णतीसं।
चउसु जुगलेसु आऊ णादव्वा इंददेवीणं ॥५३१॥
आरणदुगपरियंतं वड्ढंते पंचपल्लाइं।
मूलाआरे इरिया एवं णिउणं णिरूवेंति ॥५३२॥

अर्थात्—चार युगलोंमें इन्द्र-देवियोंकी आयु-क्रमसे पांच, सत्तरह, पच्चीस और पैंतीस पल्यप्रमाण जानना चाहिए ॥५३१॥ इसके आगे आरणयुगल तक पांच-पांच

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पल्यकी वृद्धि होती है। ऐसा मूलाचारमें आचार्य स्पष्टतासे निरूपण करते हैं ॥१३२॥

यतिवृषभने यहां मूलाचारके जिस मतभेदका उल्लेख किया है, वह वर्तमान मूलाचारके बारहवें पर्याप्त्यधिकारकी ८०वीं गाथामें उक्त रूपसे ही इस प्रकार पाया जाता है:—

पणयं दस सत्तधियं पणवीसं तीसमेव पंचधियं।
चत्तालं पणदालं पण्णाओ पण्णपण्णाओ ॥८०॥

अर्थात्—देवियोंकी आयु सौधर्म-ईशान कल्पमें पांच पल्य, सनत्कुमार माहेन्द्रकल्पमें सत्तरह पल्य, ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर कल्पमें पच्चीस पल्य, लान्तव-कापिष्ठ-कल्पमें पैंतीस पल्य, शुक्र-महाशुक्रमें चालीस पल्य, शतार-सहस्रारकल्पमें पैंतालीस पल्य, आनत-प्राणत कल्पमें पचास पल्य और आरण-अच्युत कल्पमें पचवन पल्य है॥

यतिवृषभाचार्यके इस उल्लेखसे मूलाचारकी केवल प्राचीनता ही नहीं, किंतु प्रमाणिकता भी सिद्ध होती है।

यहाँ एक बात और भी जानने योग्य है और वह यह कि मूलाचार-कारने देवियोंकी आयुसे सम्बन्ध रखने वाले जहां केवल दो ही मतोंका उल्लेख किया है, वहां तिलोयपण्णत्तीकारने देवियोंकी आयु-सम्बन्धी चार मत-भेदोंका उल्लेख किया है। उनमें प्रथम मतभेद तो बारह स्वर्गोंकी मान्यता वालोंका है। तीसरा मतभेद 'लोकायनी' (संभवतः लोकविभाग) ग्रन्थका है। दूसरा और चौथा मत मूलाचार का है। इससे एक खास निष्कर्ष यह भी फलित होता है कि मूलाचार-कारके सम्मुख जब दो ही मत-भेद थे, तब तिलोयपण्णत्ती-कारके सम्मुख चार मतभेद थे—अर्थात् तिलोयपण्णत्तीके रचना-कालसे मूलाचारका रचना-काल इतना प्राचीन है कि मूलाचारकी रचना होनेके पश्चात् और तिलोयपण्णत्तीकी रचना होनेके पूर्व तक अन्तरालवर्ती कालमें अन्य और भी दो मत-भेद देवियोंकी आयुके विषयमें उठ खड़े हुए थे और तिलोयपण्णत्तीकारने उन सबका संग्रह करना आवश्यक समझा।

इन दो उल्लेखोंसे मूलाचारकी प्राचीनता और मौलिकता असंदिग्ध हो जाता है।

यहां एक बात और भी ध्यान देने योग्य यह है कि धवला टीकामें जो गाथा आचारांगके नामसे उद्धृत है, वह श्वेत० आचारांगमें नहीं पाई जाती। इसके अतिरिक्त राजवार्तिक आदिमें आचारांगके स्वरूपका वर्णन करते हुए जो प्रश्न और उत्तर रूपसे दो गाथाएं पाई जाती हैं, वे भी श्वेता० आचारांगमें उपलब्ध नहीं हैं, जब कि वे दोनों गाथाएं मूलाचारके समयसाराधिकारमें पाई जाती हैं और इस प्रकार हैं:—

कधं चरे कधं चिट्ठे कधमासे कधं सये ?
कधं भुंजेज्ज भासिज्ज कधं पावं ण बज्झदि ॥१२१
जदं चरे जदं चिट्ठे जदमासे जदं सये।
जदं भुंजेज्ज भासेज्ज एवं पावं ण बज्झइ ॥१२२॥

धवला टीकाके उपर्युक्त उल्लेखसे तथा इन दोनों गाथाओंकी उपलब्धिसे वर्तमान मूलाचार ही आचारांग सूत्र है, यह बात भले प्रकार सिद्ध होती है।

अब देखना यह है कि स्वयं मूलाचारकी स्थिति क्या है और वह वर्तमानमें जिस रूपमें पाया जाता है उसका वह मौलिक रूप है या संगृहीत रूप ?

मूलाचारकी टीका प्रारम्भ करते हुए आ० वसुनन्दीने जो उत्थानिका दी है, उससे उक्त प्रश्न पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है अतः उसे यहां उद्धृत किया जाता है। वह उत्थानिका इस प्रकार है:—

श्रुतस्कन्धाधारभूतमष्टादशपदसहस्रपरिमाणं, मूलगुणप्रत्याख्यान-संस्तर-स्तवाराधना-समयाचार-पंचाचार-पिंडशुद्धि—षडावश्यक—द्वादशानुप्रेक्षाऽनगारभावना—समयसार-शीलगुणप्रस्तार-पर्याप्त्यधिकार-निबद्धमहार्थगभीरं, लक्षणसिद्धपदवाक्यवर्णोपचितं, घातिकर्मक्षयोत्पन्नकेवलज्ञानप्रबुद्धाशेषगुणपर्यायखचितषड्द्रव्यनवपदार्थजिनवरोपदिष्टं, द्वादशविधतपोऽनुष्ठानोत्पन्नानेकप्रकारर्द्धिसमन्वितगणधरदेवरचितं मूलगुणोत्तरगुणस्वरूपविकल्पोपायसाधनसहायफलनिरूपणप्रवणमाचारांगमाचार्यपारम्पर्यप्रवर्तमानमल्पबलमेधायु—शिष्यनिमित्तं द्वादशाधिकारैरुपसंहर्तुकामः स्वस्य श्रोतृणां च प्रारब्धकार्यप्रत्यूहनिराकरणक्षमं शुभपरिणामं विदधच्छ्रीवट्टकेराचार्यः प्रथमतरं तावन्मूलगुणाधिकारप्रतिपादनार्थं मंगलपूर्विकां प्रतिज्ञां विधत्ते—

अर्थात् जो श्रुतस्कन्ध—द्वादशाङ्गरूप श्रुतवृक्षका आधारभूत है, अट्ठारह हज़ार पद-परिमाण है, मूलगुण आदि बारह अधिकारोंसे निबद्ध एवं महान् अर्थ-गाम्भीर्यसे युक्त है, लक्षण-सिद्ध वर्ण, पद और वाक्योंसे सम-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

न्वित है, घातिकर्मक्षयसे उत्पन्न केवलज्ञानके द्वारा जिन्होंने षट् द्रव्यों और नव पदार्थोंके समस्त गुण और पर्यायोंको जान लिया है, ऐसे जिनेन्द्रदेवसे उपदिष्ट है, बारह प्रकारके तपोंके अनुष्ठानसे जिनके अनेक प्रकारकी ऋद्धियां उत्पन्न हुई हैं, ऐसे गणधरदेवसे जो रचित है, और जो साधुओंके मूलगुणों और उत्तरगुणोंके स्वरूप, भेद उपाय, साधन, सहाय और फलका निरूपण करने वाला है, ऐसे आचार्य—परम्परासे आये हुए आचाराङ्गको अल्प बल बुद्धि और आयु वाले शिष्योंके लिए द्वादश अधिकारों-से उपसंहार करनेके इच्छुक श्रीवट्टकेराचार्य अपने और श्रोताजनोंके प्रारब्ध कार्यमें आने वाले विघ्नोंके निराकरण-में समर्थ ऐसे शुभ परिणामको धारण करते हुए सर्व प्रथम मूलगुणाधिकारके प्रतिपादन करनेके लिए मंगल-पूर्वक प्रतिज्ञा करते हैं :—

इस उत्थानिकाके द्वारा यह प्रकट किया गया है कि जिनेन्द्र-उपदिष्ट एवं गणधर-रचित, द्वादशांग वाणीका आद्य जो आचारांग सूत्र है वह महान् गम्भीर और अति विशाल है, उसे अल्प बल-बुद्धि वाले शिष्योंके लिए ग्रन्थकार उन्हीं बारह अधिकारोंमें उपसंहार कर रहे हैं, जिन्हें कि गणधरदेवने रचा था। इस उल्लेखसे प्रस्तुत ग्रन्थकी मौलिकता एवं प्रामाणिकता स्वतः सिद्ध है। यह उल्लेख ठीक उसी प्रकारका है, जैसा कि कसाय-पाहुडके लिए वीरसेनाचार्यने किया है। यथा—

'तदो अंगपुव्वाणमेगदेसो चेव आइरियपरंपराए आगंतूण गुणहराइरियं संपत्तो पुणो तेण गुणहरभडारएण णाणपवादपंचमपुव्व-दसमवत्थु-तदियकसायपाहुडमहण्णव-पारएण गंथवोच्छेदभएण पवयणवच्छलपरवसीकयहियएण एदं पेज्जदोसपाहुडं सोलसपदसहस्सपमाणं होंतं असीदिसदमेत्तगाहाहि उपसंहारिदं।"

अर्थात्—उक्त अंग-पूर्वोंका एक देश ही आचार्य परम्परासे आकर गुणधराचार्यको प्राप्त हुआ। पुनः ज्ञान-प्रवाद नामक पांचवें पूर्वकी दशवीं वस्तुके तीसरे कसाय पाहुडरूप महार्णवके पारको प्राप्त उन गुणधर-भट्टारकने जिनका कि हृदय प्रवचनके वात्सल्यसे परिपूर्ण था, सोलह हजार पदप्रमाण इस पेज्जदोसपाहुडका ग्रन्थ-विच्छेदके भयसे केवल एकसौ अस्सी गाथाओंके द्वारा उपसंहार किया।

इस विवेचनसे न केवल मूलाचारकी मौलिकता और प्रामाणिकताका ही बोध होता है, अपितु उसके कर्त्ता वट्टकेराचार्यके अगाध श्रुतपांडित्यका भी पता चलता है। उक्त उल्लेखके आधार पर कमसे कम इतना तो निर्विवाद मानना ही पड़ेगा कि उन्हें आचार्य-परम्परासे आचारांग-का पूर्ण ज्ञान था, वे उसके प्रत्येक अधिकारसे भली भांति परिचित थे और इसीलिए उन्होंने उन्हीं बारह अधिकारोंमें अट्ठारह हजार पदप्रमाण उस विस्तृत आचा-रांगसूत्रका उपसंहार किया है। ठीक वैसे ही, जैसे कि सोलह हजार पदप्रमाण पेज्जदोसपाहुडका गुणधराचार्यने मात्र एक सौ अस्सी गाथाओंमें उपसंहार किया है।

मूलाचार एक मौलिक ग्रन्थ है, संग्रह ग्रन्थ नहीं, इसका परिज्ञान प्रत्येक अधिकारके आद्य मंगलाचरण और अन्तिम उपसंहार-वचनोंसे भी होता है और जो पाठकके हृदयमें अपनी मौलिकताकी मुद्राको सहजमें ही अंकित करता है। यहाँ यह कहा जा सकता है कि जब यह मौलिक ग्रन्थ है, तो फिर इसके भीतर अन्य ग्रंथोंकी गाथाएँ क्यों उपलब्ध होती हैं? इस प्रश्नके उत्तरमें दो बातें कहीं जा सकती हैं। एक तो यह—कि जिन गाथाओं-को अन्य ग्रन्थोंकी कहा जाता है, बहुत सम्भव है कि वे इन्हींके द्वारा रचित अन्य ग्रन्थोंकी हों? और दूसरे यह कि अनेकों गाथाएँ आचार्य-परम्परासे चली आ रही थीं, उन्हें मूलाचारकारने अपने ग्रन्थमें यथास्थान निबद्ध कर दिया। अपने इस निबद्धीकरणका वे प्रस्तुत ग्रन्थमें यथा-स्थान संसूचन भी कर रहे हैं। उदाहरणके तौर पर यहाँ ऐसे कुछ उल्लेख दिये जाते हैं:—

(१) वोच्छं सामाचारं समासदो आणुपुव्वीए (४,१)
(२) वोच्छामि समयसारं सुण संखेवं जहावुत्तं (८,१)
(३) पज्जत्ती-संगहणी वोच्छामि जहाणुपुव्वीए (१२,१)

तीसरे उद्धरणमें आया हुआ 'पज्जत्ती-संगहणी' पद उपर्युक्त शंकाका भली भांति समाधान कर रहा है।

वट्टकेराचार्य कौन हैं?

मूलाचारके कर्त्ताके रूपमें जिनका नाम लिया जाता है, वे वट्टकेराचार्य कौन हैं, इस प्रश्नका अभी तक निर्णय नहीं हो सका है? विभिन्न विद्वानोंने इसके लिए विभिन्न आचार्योंकी कल्पनाएँ की हैं, परन्तु इस नामके आचार्य-का किसी शिलालेखादिमें कोई उल्लेखादि न होनेसे 'वट्टकेराइरिय' अभी तक विचारणीय ही बने हुए हैं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पुरातन-जैनवाक्य-सूची की प्रस्तावनाके १८ वें पृष्ठ पर आचार्य श्री ब्र० जुगलकिशोरजी मुख्तारने लिखा है:—

"××× इस (वट्टकेराइरिय) नामके किसी भी आचार्यका उल्लेख अन्यत्र गुर्वावलियों, पट्टावलियों शिलालेखों तथा ग्रन्थ प्रशस्तियों आदिमें कहीं भी देखनेमें नहीं आता और इसलिए ऐतिहासिक विद्वानों एवं रिसर्चस्कालरोंके सामने यह प्रश्न बराबर खड़ा हुआ है कि ये वट्टकेरादि नामके कौनसे आचार्य हैं और कब हुए हैं?"

श्री मुख्तार सा० ने 'वट्टकेराचार्य' के सन्धि-विच्छेद-द्वारा अर्थ-संगति बिठानेका प्रयास भी उक्त प्रस्तावनामें किया है। वे 'वट्टकेराइरिय' का वट्टक+इरा+आइरिय' ऐसा सन्धि-विच्छेद करते हुए लिखते हैं:—

"वट्टक' का अर्थ वर्तक-प्रवर्तक है, 'इरा' गिरा वाणी-सरस्वतीको कहते हैं, जिसकी वाणी सरस्वती प्रवर्त्तिका हो - जनताको सदाचार एवं सन्मार्गमें लगाने वाली हो—उसे वट्टकेर' समझना चाहिए। दूसरे, वट्टकों—प्रवर्तकोंमें जो इरि = गिरि प्रधान-प्रतिष्ठित हो, अथवा ईरि = समर्थ-शक्तिशाली हो, उसे 'वट्टकेरि' जानना चाहिए। तीसरे 'वट्ट' नाम वर्तन-आचरणका है और 'ईरक' प्रेरक तथा प्रवर्तकको कहते हैं, सदाचारमें जो प्रवृत्ति कराने वाला हो, उसका नाम 'वट्टेरक' है। अथवा 'वट्ट' नाम मार्गका है, सन्मार्गका जो प्रवर्तक, उपदेशक एवं नेता हो उसे भी वट्टेरक कहते हैं। और इसलिए अर्थकी दृष्टिसे ये वट्टकेरादि पद कुन्दकुन्दके लिए बहुत ही उपयुक्त तथा संगत मालूम होते हैं। आश्चर्य नहीं, जो प्रवर्तकत्व-गुणकी विशिष्टताके कारण ही कुन्दकुन्दके लिए 'वट्टकेरकाचाय (प्रवर्तकाचार्य)' जैसे पदका प्रयोग किया गया हो।"

श्री० नाथूरामजी प्रेमीका 'मूलाचारके कर्त्ता वट्टकेरि' शीर्षक लेख जैन सिद्धान्त-भास्करके भाग १२ की किरण १ में प्रकाशित हुआ है, उसमें वे लिखते हैं:—

' ××× वट्टकेरि' नाम भी गाँवका बोधक होना चाहिए और मूलाचारके कर्ता बेट्टगेरी या बेट्टकेरी ग्रामके ही रहने वाले होंगे और जिस तरह कोण्डकुण्डके रहने वाले आचार्य कौण्डकौण्डाचार्य, तथा तुम्बुलूर ग्रामके रहने वाले तुम्बुलूराचार्य कहलाये, उसी तरह ये वट्टकेराचार्य कहलाने लगे।'

इसी लेखमें आप लिखते हैं कि 'डा० ए. एन. उपाध्यायने मुझे बतलाया है कि कनड़ीमें 'वेट्ट' छोटी पहाड़ीको और 'केरी' गली या मोहल्लेको कहते हैं। बेलगाव और धारवाड़ जिलेमें इस नामके गांव अब भी मौजूद हैं।

आगे आप लिखते हैं—"पं० सुब्बय्या शास्त्रीसे मालूम हुआ कि श्रवणबेलगोलका भी एक मुहल्ला वेट्टगेरि नामसे प्रसिद्ध है। कारिकलके हिरियंगडि बस्तिके पद्मावती देवीके मन्दिरके एक स्तम्भ पर शक सं० १३६७ का एक शिलालेख है जो कनड़ी भाषामें है। इस लेखमें 'बेट्टकेरि' गांवका नाम दो बार आया है और वह कारिकलके पास ही कहीं होना चाहिए। सो हमारा अनुमान है कि मूलाचारके कर्त्ता 'वट्टकेरि' भी उक्त नामके गांवोंमेंसे ही किसी गांवके रहने वाले होंगे।"

प्रेमीजीके इस लेखमें सुझाई गई कल्पनाओंके विषयमें मुख्तार साहब अपनी उसी प्रस्तावनामें लिखते हैं:—

"वेट्टगेरि या बेट्टकेरी नामके कुछ ग्राम तथा स्थान पाये जाते हैं, मूलाचारके कर्त्ता उन्हींमें से किसी वेट्टगेरि या बेट्टकेरी ग्रामके ही रहने वाले होंगे और उस परसे कौण्डकुण्डादिकी तरह 'बेट्टकेरी' कहलाने लगे होंगे, वह कुछ संगत नहीं मालूम होता—बेट्ट और वट्ट शब्दोंके रूपमें ही नहीं, किन्तु भाषा तथा अर्थमें भी बहुत अन्तर है। 'बेट्ट' शब्द प्रेमीजीके लेखानुसार छोटी पहाड़ीका वाचक कनड़ी भाषाका शब्द है और 'गेरि' उस भाषामें गली-मोहल्लेको कहते हैं; जबकि 'वट्ट' और वट्टक' जैसे शब्द प्राकृत भाषाके उपर्युक्त अर्थके वाचक शब्द हैं और ग्रन्थकी भाषाके अनुकूल पड़ते हैं। ग्रन्थभरमें तथा उसकी टीकामें 'बेट्टगेरि' या 'बेट्टकेरी' रूपका एक जगह भी प्रयोग नहीं पाया जाता और न इस ग्रन्थके कर्तृत्वरूपमें अन्यत्र ही उसका प्रयोग देखनेमें आता है, जिससे उक्त कल्पनाको कुछ अवसर मिलता।"

(पुरातन जैनवाक्यसूची प्रस्ता० पृ० १६)

उपर्युक्त दोनों विद्वानोंके कथनोंका समीक्षण करते हुए मुझे मुख्तार साहबका अर्थ वास्तविक नामकी ओर अधिक संकेत करता हुआ जान पड़ता है। यदि 'वट्टकेराइरिय' का सन्धि-विच्छेद 'वट्टक + एरा + आइरिय' करके और संस्कृत-प्राकृतके 'ड-लयोः र-लयोरभेदः' नियमको ध्यानमें रखकर इसका अर्थ किया जाय, तो सहजमें ही 'वर्तक + एला + आचार्य = वर्तकैलाचार्य नाम प्रगट हो जाता है। आचार्य कुन्दकुन्दका एक नाम 'एलाचार्य' भी

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रसिद्ध है। वर्तक या प्रवर्तक यह उनकी उपाधि या पद रहा है, जिसका अर्थ होता है—वर्तन, प्रवर्तन, या आचरण करानेवाला। मेरे इस कथनकी पुष्टि इसी मूलाचारके समाचाराधिकारसे भी होती है जिसमें साधुको कहाँ पर नहीं रहना चाहिए, इस बातको बतलाते हुए मूलाचारकार कहते हैं—

तत्थ ण कप्पइ वासो जत्थ इमे णत्थि पंच आधारा।
आइरिय-उवज्झाया पवत्त थेरा गणधरा य ॥१५५

अर्थात्–साधुको उस गुरुकुलमें नहीं रहना चाहिए, जहां पर कि आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर और गणधर, ये पाँच आधार न हों।

आ० वसुनन्दी 'पवत्त' पदकी व्याख्या करते हुए लिखते हैं:—'संघं प्रवर्तयतीति प्रवर्तकः' अर्थात् जो संघको उत्तम दिशामें प्रवर्तन करे, वह प्रवर्तक कहलाता है।

स्वयं मूलाचार-कार उपर्युक्त पांचों आधारोंका अर्थ इससे आगेकी गाथामें इस प्रकार सूचित करते हैं:—

सिस्साणुग्गहकुसलो धम्मुवदेसो य संघवट्टवओ।
मज्जादुवदेसो वि य गणपरिरक्खो मुणेयव्वो ।१५६

अर्थात्—जो शिष्योंके अनुग्रहमें कुशल हो, उसे आचार्य कहते हैं जो धर्मका उपदेश दे, वह उपाध्याय कहलाता है। जो संघका प्रवर्तक हो चर्या आदिके द्वारा उपकारक हो उसे प्रवर्तक कहते हैं, जो साधु-मर्यादाका उपदेश दे, वह स्थविर है और जो सर्व प्रकारसे गणकी रक्षा करे उसे गणधर कहते हैं।

मूलाचार कारने इससे आगेके षडावश्यक अधिकारमें सामायिक करनेके पूर्व किस-किसका कृतिकर्म करना चाहिए, इस प्रश्नका उत्तर देते हुए कहा है :—

आइरिय-उवज्झायाणं पवत्तय थेर-गणधरादीणं।
एदेसिं किदियम्मं कायव्व णिज्जरट्ठाए ॥९४॥

अर्थात कर्मोंकी निर्जराके लिए आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर और गणधरादिका कृतिकर्म करना चाहिए।

मूलाचारके इन दोनों उद्धरणोंसे जहां 'प्रवर्तक' पदकी विशेषता प्रकट होती है, वहां उससे इस बात पर भी प्रकाश पड़ता है कि मूलाचार-रचयिताके समय तक अनेक साधु-संघ विशाल परिमाण में विद्यमान थे और उनके भीतर उक्त पाँचों पदोंके धारक मुनि-पुंगव भी होते थे। यही कारण है कि वे शिष्यों-सामान्य साधुजनोंके लिए हिदायत देते हुए कहते हैं कि साधुको उस गुरुकुलमें नहीं रहना चाहिए, जहाँ पर कि उक्त पांच आधार न हों। दूसरे उल्लेखसे भी इसी बातकी पुष्टि होती है, जिसमें कि संघ के आधारभूत उक्त पांचोंके कृतिकर्म करनेका विधान किया गया है।

समाचाराधिकारकी गाथा नं. १५६ के 'संघवट्टवओ' पदका आ० वसुनन्दिकृत अर्थ 'संघप्रवर्तकश्चर्यादिभिरुपकारकः' देखनेसे और स्वयं आचारांग शास्त्रके रचयिता होनेसे यह बात सहजमें ही हृदय पर अंकित होती है कि एलाचार्य किसी बहुत बड़े साधु संघके प्रवर्तक पद पर आसीन थे और इसी कारण पश्चाद्वर्ती आचार्योंने उन्हें इसी नामसे स्मरण किया। वर्तक+एलाचार्यका ही प्राकृतरूप 'वट्टकेराइरिय' है। ऐसा ज्ञात होता है कि मूलाचारकी जो मूलप्रतियाँ आ० वसुनन्दीके सामने रही हैं उनके अन्त में 'वट्टकेराइरिय विरइय' जैसा पाठ रहा होगा और उसमें के अन्तिम पद 'आइरिय' का संस्कृतरूप आचार्य करके प्रारंभके 'वट्टकेर' को उन्होंने किसी आचार्य विशेषका नाम समझकर और उसके संस्कृतरूप पर ध्यान न देकर अपनी टीकाके आदि व अन्तमें उसके रचयिताका 'वट्टकेराचार्य' नाम से उल्लेख कर दिया।

वर्तक-एलाचार्य या कुन्दकुन्द

उक्त विवेचनसे यह तो स्पष्ट हो गया कि मूलाचारके कर्त्ता प्रवर्तक एलाचार्य हैं। पर इस नामके अनेक आचार्य हो गये हैं, अतः मूलाचारके कर्त्ता कौनसे एलाचार्य हैं? यह सहजमें ही प्रश्न उपस्थित होता है। ऐतिहासिक विद्वानोंने तीन एलाचार्योंकी खोज की है। प्रथम कुन्दकुन्द, जो मूलसंघके प्रवर्तक माने जाते हैं। दूसरे वे, जो धवला टीकाकार वीरसेनाचार्यके गुरु थे और तीसरे 'ज्वालिनीमत' नामक ग्रन्थके आद्य प्रणेता। जैसा कि लेखके प्रारम्भमें बताया गया है, धवला टीकामें मूलाचारके आचारांगके रूपसे और तिलोयपण्णत्तीमें मूलाचारके रूपसे उल्लेख होनेके कारण मूलाचारके कर्ता अन्तिम दोनों एलाचार्य नहीं हो सकते हैं, अतः पारिशेषन्यायसे कुन्दकुन्द ही एलाचार्यके रूपसे सिद्ध होते हैं।

मूलाचारकी कितनी ही प्राचीन हस्तलिखित प्रतियों-में भी ग्रन्थकर्त्ताका नाम कुन्दकुन्दाचार्य पाया जाता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

माणिकचन्द्र ग्रन्थमालासे प्रकाशित मूलाचारके अन्तमें जो पुष्पिका पाई जाती है उसमें भी मूलाचारको कुंदकुंदाचार्य प्रणीत लिखा है। वह पुष्पिका इस प्रकार है :—
'इति मूलाचारविवृतौ द्वादशोऽध्यायः । कुन्दकुन्दाचार्य-प्रणीतमूलाचाराख्यविवृतिः। कृतिरियं वसुनन्दिनः श्रीश्रमणस्य।' इससे भी उक्त कथनकी पुष्टि होती है।

आ० कुन्दकुन्दके समयसार, प्रवचनसारादि ग्रन्थोंके साथ मूलाचारका कितना सादृश्य है, यह पृथक् लेख द्वारा प्रगट किया जायगा। यहाँ पर इस समय इतना ही कहना है कि मूलाचारको सामने रखकर कुन्दकुन्दके अन्य ग्रन्थोंका गहरा अभ्यास करने वाले पाठकोंसे यह अविदित नहीं रहेगा कि मूलाचारके कर्त्ता आ० कुन्दकुन्द ही हैं। ऐसी हालतमें प्रज्ञाचक्षु पं० सुखलालजीका या पं० परमानंदजी शास्त्रीका कथन कितना सार-गर्भित है, यह सहज ही जाना जा सकता है। यहाँ पर मुझे यह प्रकट करते हुए प्रसन्नता होती है कि पं० परमानन्दजीको अब अपने उस पूर्व कथनका आग्रह नहीं है, वे कुछ पहलेसे ही मूलाचारको एक अति प्राचीन मौलिक ग्रन्थ समझने लगे हैं।

पाँचवे श्रुतकेवली आ० भद्रबाहुके समयमें होने वाले दुर्भिक्षसे जो संघभेद हो गया और इधर रहने वाले साधुओंके आचार-विचारमें जो शिथिलता आई, उसे देखकर ही मानों आ० कुन्दकुन्दने साधुओंके आचार-प्रतिपादक मूल आचारांगका उद्धार कर प्रस्तुत ग्रन्थकी रचना की, इसी कारणसे इस ग्रन्थका नाम मूलाचार पड़ा और तदनुसार साधु-संघका प्रवर्तन करानेसे उनके संघका नाम भी मूलसंघ प्रचलित हुआ, ये दोनों ही बातें 'वट्टकेराइरिय' नामके भीतर छिपी हुई हैं और इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि मूलाचार अति प्राचीन मौलिक ग्रन्थ है और उसके रचयिता एलाचार्य नाम से प्रख्यात आ० कुन्दकुन्द ही हैं।

आर्य और द्रविड़ संस्कृतिके सम्मेलनका उपक्रम

(बाबू जयभगवानजी एडवोकेट)

द्रविड़ संस्कृतिकी रूप रेखा—

भारतको हिन्दू संस्कृति दो मुख्य संस्कृतियोंके सम्मेलनसे बनी है, इनमेंसे एक वैदिक आर्योंकी आधिदैविक संस्कृति और दूसरी द्राविड़ लोगोंकी आध्यात्मिक संस्कृति। परन्तु वास्तवमें यदि देखा जाय तो हिंदू संस्कृतिका अधिकांश भाग बारहसे चौदह आने तक सब अनार्य है। भारतीयोंका खान-पान (चावल, भात, दाल, सत्तू, दूध, घी, गुड़, शक्कर आदि) वेषभूषा (धोती, चादर, पगड़ी) रहन-सहन, (ग्राम, नगर, दुर्ग, पत्तन) आचार व्यवहार (अहिंसात्मक—सभीके अधिकारों और सुभीताओंका आदर करना), जीवन आदर्श—(मुक्तिकी खोज), आराध्यदेव (त्यागी, तपस्वी सिद्ध पुरुष) धर्म मार्ग—(दया, दान, दमन, व्रत, उपवास) पूजा-भक्ति तीर्थ गमन आदि सभी बातें द्रविड़ संस्कृतिके सांचेमें ढली हैं १।

भारतीय व वैदिक साहित्यके अनुशीलनसे तथा लघु एशियायी पुरातत्त्व व सिन्ध और पंजाबके मोहनजोदड़ों तथा हड़प्पा नगरोंकी खुदाईसे प्राप्त वस्तुओंसे यह बात तो सर्व सम्मत ही है कि वैदिक आर्यगण लघु एशिया और मध्य एशियाके देशोंमेंसे होते हुए त्रेतायुगकी आदिमें लगभग ३००० ई० पूर्वमें इलावर्त और उत्तरपश्चिमके द्वारसे पंजाबमें आये थे। उस समय पहलेसे ही द्राविड़ लोग गान्धारसे विदेह तक; और पंचालसे दक्षिणके मयदेश तक अनेक जातियोंमें बटे हुए अनेक जनपदोंमें बसे हुए थे, और सभ्यतामें काफी बढ़े चढ़े थे। ये दुर्ग ग्राम, पुर और नगर बनाकर एक सुव्यवस्थित राष्ट्रका जीवन व्यतीत करते थे। ये वास्तुकलामें बड़े प्रवीण थे। ये भूमि खोदकर बड़े सुन्दर कूप, तालाब, बावड़ी, भवन और प्रासाद बनाना जानते थे२। इनके नगर और दुर्ग ईंट, पत्थर और चूने के बने हुए थे। इनके कितने ही दुर्ग लोहा, सोना

१. (अ) अनेकान्त वर्ष ११ किरण ४-५—लेखक द्वारा लिखित 'भारतकी अहिंसा संस्कृति' शीर्षक लेख।
(आ) बंगाल रायल एशियाटिक सोसाइटीकी पत्रिका भाग १६ संख्या १ वर्ष ई० १९५०—में प्रकाशित डा० सुनीतिकुमारचटर्जीका लेख 'कृष्ण द्वैपायन व्यास और कृष्ण वासुदेव।'

२. (अ) "रज्जुरिव हि सर्पाःकूपा इव हि सर्पाणामायतनानि अस्ति वै मनुष्याणां च सर्पाणां च विभ्रातृव्यम्"।
शत० ब्रा० ४-४-५-३

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

और चाँदीसे युक्त थे। कृषि, पशु पालन, वाणिज्य व्यापार और शिल्पकला इनके मुख्य व्यवसाय थे। ये जहाज चलानेकी कलामें दक्ष थे। ये जहाजों द्वारा समुद्री मार्गसे लघु एशिया तथा उत्तर पूर्वीय अफ्रीकाके दूरवर्ती देशोंके साथ व्यापार करते थे१।

इन्होंने अपने उच्च नैतिक जीवनसे उक्त देशोंके लोगोंको काफी प्रभावित किया था और उन्हें अपने बहुतसे धार्मिक आख्यान बतलाये थे। उनमें अपनी आध्यात्मिक संस्कृतिका प्रसार भी किया था। उक्त देशोंमें जन्मने वाले सभी सुमेरी और आसुरी सभ्यताओंमें जो सृष्टि-प्रलय और सृष्टि पूर्व व्यवस्था-सम्बन्धी मृत्यु तम-अपवाद पुरुष आत्मा-असुर-व्रात्य-प्रजापति-हिरण्यगर्भवाद, विसृष्टि-इच्छा, तपनादिके आख्यान (Mythes) प्रचलित हैं, वे इन दस्युलोगोंकी ही देन हैं। वे इनके मृत्यु व अज्ञानतम-आच्छादित संसारसागरवाद, संसार-विच्छेदक आदिपुरुष जन्मवाद, ज्ञानात्मक सृष्टिवाद, त्याग तपस्या ध्यान विलीनता द्वारा संसारका प्रलयवाद अन्य अध्यात्मिक आख्यानोंके ही आधिदैविक रूपान्तर हैं; ये आख्यान लघु एशियामेंसे चलकर आनेवाले आर्यजनके वैदिक साहित्यमें तो काफी भरे हुए हैं; परन्तु मध्यसागरके निकटवर्ती देशोंमें पीछेसे यहूदी, ईसाई, इसलाम आदि जितने भी धर्मोंका विकास हुआ है, उन सभीमें अपने-अपने ग्रन्थोंमें उक्त आख्यानोंका श्रुतिरूपसे बखान किया है; चूँकि ये सभी आख्यान आध्यात्मिक हैं और आध्यात्मिक व्याख्यासे ही ये सार्थक ठहरते हैं ! इसलिये आध्यात्मिक परम्परासे विलग हो जानेके कारण जब इनका अर्थ अन्य उक्त देश वालोंने आधिदैविक रीतिसे करना चाहा तो ये सभी विचारकोंके लिये जटिल समस्या बन गये। और आज भी ये ईश्वर वादी विचारकोंके लिये एक गहन समस्या हैं।

ये द्रविड़ लोग सर्प चिन्हका टोटका (Totem) अधिक प्रयोगमें लानेके कारण नाग, अहि, सर्प आदि नामोंसे विख्यात थे। वाणिज्य व्यापारमें कुशल होनेके कारण ये पार्ण (वणिक) कहलाते थे। श्यामवर्ण होनेके कारण ये कृष्ण भी कहलाते थे२। अपनी बौद्धिक प्रतिभा और उच्च आचार-विचारके कारण ये अपनेको दास व दस्यु (चमकदार) नामोंसे पुकारते थे। व्रतधारी व संयमी होने तथा वृत्रके उपासक होनेके कारण ये व्रात्य भी कहलाते थे, ये प्रत्येक विद्याओंके जानकार होनेसे द्राविड़ नामसे प्रसिद्ध थे, संस्कृत विद्याधर शब्द 'द्राविड़' शब्दका ही संस्कृत रूपान्तर है— द्राविड़' धराविद्, विद्याधर। इसीलिये पिछले पौराणिक व जैनसाहित्यमें कथा, रामायण, महाभारत आदि ग्रन्थोंमें इन्हें विशेषतया विन्ध्याचल प्रदेशी तथा दक्षिण अनार्य लोगोंका "विद्याधर शब्दसे ही निर्देश किया गया है३। ये बड़े बलिष्ठ, धर्मनिष्ठ, दयालु और अहिंसाधर्मको माननेवाले थे। ये अपने इष्टदेवको वृत्र (अर्थात् सब ओरसे घेर कर रहने वाला अर्थात् सर्वज्ञ)४ अर्हन् (सर्वआदरणीय) परमेष्ठी (परम सिद्धिके मालिक जिन (संसारके विजेता मृत्युञ्जय) शिव (आनन्दपूर्ण) ईश्वर(महिमापूर्ण) नामोंसे पुकारते थे। ये आत्म-शुद्धिके लिये अहिंसा संयम तप मार्गके अनुयायी थे। ये केशी (जटाधारी) (शिशन-देव) (नग्नसाधुओं) के उपासक थे५। ये नदियों और पर्वतोंको इन योगियोंकी तपोभूमि होनेके कारण तीर्थस्थान मानते थे। ये न्यग्रोध, अश्वत्थ, आदि वृक्षोंको योगियोंके ध्यान-साधनासे सम्बन्धित होनेके कारण पूज्य वस्तु मानते थे।

द्राविड़ संस्कृतिकी प्राचीनता—

द्राविड़ लोगोंकी इस आध्यात्मिक संस्कृतिकी प्राचीनताके सम्बन्धमें इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि आर्यजनके आगमनसे पूर्व यह संस्कृति भारतमें प्रचलित थी। यहांके विज्ञजन देव-उपासना सत्य-चिन्तन, और कविभावुकतासे ऊपर उठकर आत्मलक्ष्यकी साधनामें जुट चुके थे। वे सांसारिक अभ्युदयको नीरस और मिथ्या जान अध्यात्म

(१) [अ] विशेष वर्णनके लिये देखें अनेकान्त वर्ष ११ किरण २ में प्रकाशित लेखकका "मोहनजोदड़ो काखीन और आधुनिक जैन संस्कृति" शीर्षक लेख।

(२) ऋग्वेद ८, ८५-१३-१५

(३) रामायण (वाल्मीकि) सुन्दरकांड सर्ग १२। ब्राह्मी संहिता १२-७; ६-३८; पद्मपुराण स्वर्गखण्ड।

(४) वृत्रोह वाऽइदं सर्वं वृत्वा शिश्यो यदिदमन्तरेण द्यावापृथिव्वी य यदिदं सर्वं वृत्वा शिश्ये तस्माद्वृत्रो नाम।
—शतपथ ब्रा० १. १. ३. ४

(५) इसके लिये देखें अनेकान्त वर्ष १२ किरण २ व ३ में लेखकके 'भारत योगियोंका देश है' शीर्षक लेख।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अभ्युदयके लिये त्यागी, भिक्षाचारी और अरण्यवासी बन चुके थे, वे तपस्या द्वारा अर्हन्, जिन, शिव, ईश्वर, परमेष्ठीरूप जीवनके उच्चतम आदर्शकी सिद्धि पा स्वयं सिद्ध बन चुके थे। अरण्योंमें इन सिद्धपुरुषके बैठनेके स्थान जो निषद, निषीदि, निषधा, निषीदिका नामोंसे सम्बोधित होते थे, भारतीय जनके लिए शिक्षा दीक्षा, शोध-चिंतन, आराधना उपासनाके केन्द्र बने हुए थे। इन निषदों परसे प्राप्त होनेके कारण ही आर्यजनने पीछेसे अध्यात्मविद्याको 'उपनिषद्' शब्दसे कहना शुरू किया था। ये स्थान आजकल जैन लोगोंमें निशिया वा निशि नामोंसे प्रसिद्ध हैं और इन स्थानकी यात्रा करना एक पुण्य कार्य समझा जाता है। उनकी इस जीवन-झांकीसे यहाँ पर यही अनुमान किया जा सकता है कि ऐहिक वैभव और दुनियावी भोग विलास वाले शैशव कालसे उठ कर त्याग और सन्तोषके प्रौढ़ जीवन तक पहुँचते थे, उन्हें क्या कुछ समय न लगा होगा। प्रवृत्ति मार्गसे निवृत्तिकी ओर मोड़ खानेसे पहले इन लोगोंने ऐहिक वैभवके सृजन, प्रसार और विलासमें काफी समय बिताया होगा। बहुत कुछ देवी-देवता अर्चन धर्म पुरुषार्थ अथवा अर्थ काम पुरुषार्थ अथवा वशीकरण यन्त्र-मन्त्रोंके करने पर भी जब उनको मनोरथकी प्राप्ति न हुई होगी, तब ही ही तो वे इनको दृष्टिमें मिथ्या और निस्सार जचे होंगे। इस लम्बे जीवन प्रयोग पर ध्यान देनेसे यह अनुमान होता है कि भारतीय संस्कृतिका प्रारम्भिक काल वैदिक आर्यजनके आगमनसे कमसे कम १००० वर्ष पूर्व अर्थात् ५००० ईसा पूर्वका जरूर होगा। इस अनुमानकी पुष्टि भारतीय अनुश्रुतिसे भी होती है कि सतयुगका धर्म तप था, और त्रेता युगमें यज्ञोंका विधान रहा, और द्वापरमें यज्ञोंका ह्रास होना शुरू हो गया१। भारतीय ज्योतिष गणनाके अनुसार सतयुगका परिमाण ४८००, त्रेताका ३६००, द्वापरका २४०० और कलिका १२०० वर्ष है। यदि वैदिक आर्यजन त्रेतायुगके मध्यमें भारतमें आये हुए माने जांय और त्रेताका मध्यकाल ३००० ईस्वी पूर्व माना जाय तो द्राविड़ संस्कृतिका आरम्भिक काल उससे कई हजार वर्ष पूर्वका होना सिद्ध होता है।

(१) मनुस्मृति १.८६, महाभारत शान्तिपर्व अध्याय २३१, २१-२६। मुण्डक उपनिषद्—१-२-१

वैदिक आर्योंका आदि धर्म—

पंजाबमें बसने वाले आर्यगण अपनी फारसी शाखाके समान ही जो फारस (ईरान) में आबाद हो गई थी, आधिदैविक संस्कृतिके मानने वाले थे। वे मानव चेतनाकी उस शैशवदशासे अभी ऊपर न उठे थे, जब मनुष्य स्वाभाविक पसन्दके कारण रंगविरंगी चमत्कारिक चीजोंको देख आश्चर्य-विभोर हो उठता है, जब वह बाह्य-तत्वोंके साथ दबकर उन्हें अपने खेल-कूद आमोद-प्रमोदका साधन बनाता है उनके भोग उपभोगमें बहता हुआ गायन और नृत्यके लिए प्रस्तुत होता है। जब वह अपनी लघुता व बेबसी प्राकृत शक्तियोंकी व्यापकता और स्वच्छन्दताको देख कर दुःखदर्द और कठिनाईके समय उनमें देवता बुद्धि धारण करता है, उनके सामने नतमस्तक हो उनसे सहायतार्थ प्रार्थना करने पर उतारू होता है। इस दशामें सर्वव्यापक ऊँचा आकाश और उसमें रहने वाले सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, तारागण तथा नियमबद्ध घूमने वाला ऋतुचक्र, अन्तरिक्ष, लोक और उसमें बसने वाले मेघ, पर्जन्य, विद्युत प्रभंजा, वायु, तथा पृथ्वीलोक, और उस पर टिके हुये समुद्र, पर्वत, क्षितिज, उषा आदि सभी सुन्दर और चमत्कारिक तत्त्व जीवनमें जिज्ञासा, ओज, स्फूर्ति और विकास करने वाले होते हैं, इसीलिए हम देखते हैं कि शुरू-शुरूमें वैदिक आर्यगण अपनी अन्य फारसी और हिन्दी योरोपीय शाखाओंकी तरह द्यु स् (आकाश वरुण (आकाशका व्यापक देवता) मित्र (आसमानी प्रकाश) सूर्य, मरुत (अन्तरिक्षमें विचरने वाला वायु) अग्नि, उषा, अश्विन् (प्रात और सन्ध्या समयकी प्रभा) आदि देवताओंके उपासक थे २।

इस सम्बन्धमें यह बात याद रखने योग्य है कि शैशवकालमें मनुष्यकी मान्यता बाहरी और आधिदैविक क्यों न हो उसके साथ उसकी कामनाओं और वेदनाओंकी अनुभूतियोंका घनिष्ठ सम्बन्ध बना रहता है। और यह स्वाभाविक भी है, क्योंकि जगत् और तत्सम्बन्धि बातोंको जाननेके लिए मनुष्यके पास अपने अनुभूतिके सिवाय

(२) (A) S. Radha Krishnan—Indian philosophy Vol. one-chapter first.
(B) Prof. A Macdonell-Vedic Mythology Vl. 2 and 3

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

और प्रमाण भी कौनसा है। इसीलिये वह जगत् और उसकी शक्तियोंकी व्याख्या सदा अपनी अनुभूतिके अनुरूप ही करता है। यद्यपि आधिदैविक पक्ष वालोंकी मान्यता है कि ईश्वरने मनुष्यको अपनी छाया अनुरूप पैदा किया है १। परन्तु मनोविज्ञान और इतिहासवालोंका कहना है कि मनुष्य अपनी अनुभूतिके अनुरूप ही जगत्, ईश्वर, और देवताओंकी सृष्टि करता है। और इस तरह मनुष्यका आदिधर्म सदा मानवीय देवतावाद (Anthropomorahism) होता है।

इसी तरह वैदिक आर्योंका आदि धर्म भी मानवीय देवतावाद था२। इनके सभी देवता मानव-समान सजीव सचेष्ट, आकृति-प्रकृतिवाले थे। वे मानव समान ही खान पान करते और वस्त्राभूषण पहनते थे। वे मानवी राजाओंकी तरह ही वाहन, अस्त्र, शस्त्र, सेना, मन्त्री आदि राजविभूतियोंसे सम्पन्न थे। वे राजाओंकी तरह ही रुष्ट होने पर रोग, मरी, दुर्भिक्ष, अतिवृष्टि, अनावृष्टि आदि विपदाओंसे दुनियामें तबाही बरपा कर देते हैं और संतुष्ट होने पर वे लोगोंको धन-धान्य, पुत्र पौत्र संतानसे माला-माल कर देते हैं।

इन देवताओंको सन्तुष्ट करनेके लिए मनुष्यके पास सिवाय यज्ञ, हवन कुरबानी, प्रार्थना-स्तुतिके और उपाय ही कौनसा है। इसलिए मानव समाजमें जहाँ कहीं और जब कभी भी देवतावादका विकास हुआ है तो उसके साथ साथ यज्ञ, हवन, स्तुति, प्रार्थना, मन्त्रोंका भी विस्तार हुआ है। इस तरह देवतावादके साथ स्तोत्रों और याज्ञिक क्रियाकाण्डका घनिष्ठ सम्बन्ध है। ऋग्वेदमें इन प्रश्नोंके उत्तरमें कि 'पृथ्वीका अंत कौनसा है, संसारकी नाभि कौनसी है, शब्दका परमधाम कौनसा है' कहा गया है कि यज्ञवेदी ही पृथ्वीका अन्त है, यज्ञ ही संसारकी नाभि है और ब्रह्म (मन्त्रस्तोत्र ही) शब्दका परमधाम३ है अर्थात् अशिन काण्डसे आगे कोई कल्याणका स्थान नहीं है। दुःखोंकी निवृत्ति और सुखोंकी सिद्धिके लिये यज्ञ ही जीवनका आधार है। देवता स्तुति एक मंत्र ही शब्दविद्याकी पराकाष्ठा है। इससे अधिक लाभदायक और कोई वाणी नहीं हो सकती। इसी तरह ब्राह्मण ग्रन्थोंमें कहा गया है कि यज्ञ ही देवताओंका अन्न है१। यज्ञ ही धर्मका मूल है२। यज्ञ ही श्रेष्ठतम कर्म है३। बिना यज्ञ किये मनुष्य अजातके समान है४। इसीलिये देवताओंकी प्रार्थना की गई है कि सभी देवता अपनी-अपनी पत्नियों सहित रथोंमें बैठकर आवें और हवि ग्रहण करके सन्तुष्ट होवें५।

जब तक मनुष्यको अपनी गरिमा और शोभाका बोध नहीं होता उसकी भावनाएँ भी उसकी बाह्यदृष्टि अनुरूप साधारण ऐहिक भावनाओं तक ही सीमित रहती है। वे धन धान्य-समृद्धि पुत्र-पौत्र उत्पत्ति, रोगव्याधि-निवृत्ति, दीर्घ आयु, शत्रुनाशन, आदि तक पहुँचकर रुक जाती है। उसके लिये इन्हींकी सिद्धि जीवनकी पराकाष्ठा है, इनसे आगे उसे जीवन-कल्याणका और कोई आदर्श नजर नहीं आता। इसलिए स्वभावतः आधिदैविकयुगके आर्यजन उक्तभावनाओंको लेकर ही देवताओंकी प्रार्थना करते हुए दिखाई पड़ते हैं। ऋग्वेदका अधिकांश भाग इस ही प्रकारकी भावनाओं और प्रार्थनाओंसे भरपूर है६। इन मन्त्रोंमें इन्द्रदेवतासे जहाँ-जहाँ दस्युओंके सर्वनाश और इनके धन-हरण आदिके लिये प्रार्थनाएँ की गई हैं वे उन घोर लड़ाइयोंकी प्रतिध्वनि है जो आर्यजनको अपने वर्ण और सांस्कृतिक विभेदोंके कारण दीर्घकाल तक दस्यु लोगोंके साथ लड़नी पड़ी है। इनका ऐतिहासिक तथ्य सिंधुदेश और पंजाबके ५००० वर्ष पुराने मोहनजोदड़ो और हड़प्पा सरीखे दस्यु लोगोंके उन समृद्धशाली नगरोंकी बरबादीसे समझमें आ सकता है जिनके ध्वंस अवशेष अभी १९२५

(१) So god created man in his own image. Bible Genesis 1-27

(२) वही Indian Philosophy और Vedic Mythology.

(३) इयं वेदिः परोअंतःपृथिव्या अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः।
अयं सोमो वृष्णो अश्वस्य रेजो ब्रह्मायं वाचः परमं व्योम॥
ऋग—१, १६४, ३५,

(१) यज्ञो वै देवतानाम् अन्नम्॥ शतपथ ब्राह्मण ८-१-२ १०

(२) यज्ञो वै ऋतस्य योनिः ॥ शतपथ ब्राह्मण १-३,४-१६

(३) यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म ॥ शतपथ ब्राह्मण १-७-१-५

(४) अजातो ह वै तावत्पुरुषो यावन्न भजते स यज्ञेनैव जायते। जैमिणि उप. ३-१४ ८

(५) ऋग—३-६-६, १-२

(६) ऋग—२-२ (पुत्र पौत्र उत्पत्तिके लिये)
ऋग—१०-१८ (शतवर्ष आयुके लिये)
ऋग—१०-२५-१०-२३, ६-१५-२ (दस्यु नाशनके लिये)।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

के लगभग सरकारी पुरातत्व विभाग द्वारा प्रकाशमें आये हैं।

बहुदेवतावादका उदय—

ज्यों-ज्यों वैदिक ऋषियोंका अनुभव बढ़ा और उनपर नीचे, दायें-बायें लोककी विभिन्न शक्तियां उनके अवलोकनमें आईं, त्यों त्यों इनके अधिनायक देवताओंकी संख्या बढ़ती चली गई। आखिर यह संख्या क्रम त्रायस्त्रिंश अर्थात् तैंतीस तक पहुँच गई१। ऋग्वेदकी ३-९ ९ की श्रुति अनुसार तो यह संख्या ३३३९ तक भी पहुँच गई थी। इन ३३ देवोंमें आठ वसु (१ अग्नि, २ पृथ्वी, ३ वायु, ४ अन्तरिक्ष ५ आदित्य, ६ द्यौ, ७ चन्द्रमा, ८ नक्षत्र)२ ग्यारह रुद्र दश प्राण और एक आत्मा३। द्वादश आदित्य (द्वादश मास)४ एक इन्द्र, एक प्रजापति, सम्मिलित माने जाने लगे थे५। इन देवताओंकी संख्या बढ़ती-बढ़ती इतनी बोझल हो गई कि इन्हें समझने और समझानेके लिये विद्वानोंने इन्हें लोककी अपेक्षा तीन श्रेणियोंमें विभक्त करना शुरू किया। द्यु-स्थानीय, अन्तरिक्ष-स्थानीय और पृथ्वी-स्थानीय६। इन श्रेणिबद्ध देवताओंमें भी द्यु लोकका सूर्य, अन्तरिक्ष लोकका वायु और पृथ्वीलोककी अग्नि मुख्य देवता माने जाने लगे, परन्तु इनमें भी देवासुर अथवा आर्यदस्यु संग्रामोंमें अधिक सहायक होनेके कारण वैदिक आर्योंने जो महत्ता इन्द्रको प्रदान की वह अन्य देवताओंको हासिल न हुई। जब इन देवताओंकी पृथक् पृथक् स्तुति और यज्ञ अनुष्ठान करना, मनुष्यकी शक्तिसे बाहरका काम हो गया। तब एक ही स्थानमें विश्वदेवाके उच्चारण द्वारा सबहीका ग्रहण किये जाने लगा७। इन उपरोक्त बातोंसे पता लगता है कि किन-किन उपायों द्वारा मनीषिजन इन देवताओंके नाम उच्चारणके भारसे बचनेका प्रयत्न कर रहे थे।

ये सभी देवता एक समय ही दृष्टिमें न आये थे, ये विभिन्न युगोंकी पैदावार थे। शुरू शुरूमें ये सभी देवता अपने-अपने क्षेत्रमें एक दूसरेसे बिल्कुल स्वतन्त्र, बिल्कुल स्वच्छन्द महाशक्तिशाली माने जाते रहे। अपने अपने विशेष क्षेत्रमें प्रत्येक देवता सभी अन्य देवताओंका शासक बना था। पीछेसे एक जगह सम्मिश्रण होने पर इसमें तारतम्यता, मुख्यता व गौणताका भाव पैदा होने लगा। इनकी शुरू शुरू वाली स्वच्छन्दताकी विशेषता एक ऐसी विशेषता है जो न बहुईश्वरवादसे सूचित की जा सकती है और न एकेश्वरवादसे। प्रो० मेक्समूलरने इसके लिये एक नई संज्ञा प्रस्तुत की है Henotheism अर्थात् बारी-बारीसे विभिन्न देवोंकी सर्वोच्च प्रधानता, यह बात तो सहज मनोविज्ञानकी है कि कोई मनुष्य एक साथ अनेक देवताओंको एक समान सर्वोच्च प्रधान होनेकी कल्पना नहीं करता, वह एक समयमें एकको ही प्रधानता देता है। ऋग्वेदमें जो हम सभी देवताओंको बारी-बारीसे सर्वप्रधान हुआ देखते हैं उसका स्पष्ट तथ्य यही है कि ये सभी देवता एक ही जाति और एक ही युगकी कल्पना नहीं है बल्कि ये भौगोलिक और सांस्कृतिक परिस्थिति अनुसार विभिन्न जातियों और विभिन्न युगोंकी कल्पना पर आधारित हैं! इसलिए ये अपने-अपने वर्ण, युग और क्षेत्रमें प्रधानताका स्थान धारण करते रहे हैं। इन सबका उद्गम इतिहास एक दूसरेसे पृथक् है और उन सूक्तोंसे बहुत पुराना है, जिनमें इनका स्तुति गान, किया गया है। इन त्रायस्त्रिंश देवताओंमें सबसे आखिरी दाखला उन देवोंका है जो रुद्र संज्ञासे सम्बोधित किए गए हैं। इनमें पुरुषके दश प्राण और एक आत्मा शामिल है। शतपथ ब्राह्मणकारने रुद्रशब्दकी व्युत्पत्ति बताते हुए कहा है—'कतमे रुद्रा इति? दश इमे प्राणा, आत्मा एकादश, ते यदा अस्मात् शरीरात् मर्त्यान् उत्क्रामन्ति अथ रोदयन्ति तस्मात् रुद्रा इति।' (शतपथ ब्रा० ११-६-३-७ व श. ब्रा० १४-७-५।

अर्थात् रुद्र कौनसे हैं ये दश प्राण, और ग्यारहवाँ आत्मा, चूँकि मृतक शरीरसे ये निकलकर चले जाते हैं और दुनियावालोंको रुलाते हैं, इसलिए ये रुद्र कहलाते हैं।

रुद्रदेवता यक्ष-जन व दस्युजनके पुराने देवता हैं और भारतीय योगसाधनाकी संस्कृतिसे घनिष्ठ सम्बन्ध

(१) ऋग्वेद ३-६-९, (२) शतपथ ब्राह्मण ११-६-३-६ बृह-उप ३-९-३, (३) शतपथ ब्राह्मण १४-७-५, शतपथ ब्रा० ११-६ ३-७, वृह. उप. ३-९-४ छा. उप. ३-१५-३ (४) वृह. उप. ३-९-५, (५) श. ब्रा. ४-५-७ २, (६) (अ) ऋग्वेद १-१३९-११, (आ) भास्कराचार्यकृत निरुक्त (दैवतकाण्ड) १-२-१ (इ) शौनक-सर्वानुक्रमणी २ ८। (७) ऋग्वेद १-८९ में 'विश्वदेवा' के नामसे सबकी इकट्ठी स्तुति की गई है। एते वै सर्वे देवा यद्विश्वे देवाः, कौशनकी ब्रा० ४-१४-५-३। विश्वे देवाः यत सर्वे देवाः, गोपथ ब्रा० उत्तरार्द्ध १।२०।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

यही जीवनके समस्त सुख-दुःखोंका एक मात्र आधार हो गया। और ब्रह्मा, प्रजापति, विश्वकर्मा-आदि नामोंसे निर्देश होने लगा। परन्तु आत्माको प्रेरक सत्ताको छोड़कर जो समस्त देवताओंका जनक है, जो आत्म अनुरूपही देवताओंकी सृष्टि करने वाला है, जो समस्त प्रकारके दर्शनों (PhiloSphies) विज्ञानों (Since) और कलाओंका रचयिता है, समस्त रूपोंका स्रष्टा है किसी बाह्य अनात्म सत्ताको संसारका प्रेरक माननेमें जो त्रुटियाँ बहु देवतावादमें मौजूद थी—वही त्रुटियाँ इस एक देवतावादमें भी थी इसीलिये जीवन और जगतके प्रति निरन्तर बढ़ती हुई जिज्ञासा इस एक देवतावादसे भी शान्त न हो सकी। वह प्रश्न करती ही चली गई।

सृष्टिकालमें विश्वकर्माका आश्रय क्या था? कहाँ से और कैसे उसने सृष्टि कार्य प्रारम्भ किया? विश्वदर्शक देव विश्वकर्माने किस स्थान पर रहकर पृथ्वी और आकाशको बनाया? वह कौनसा वन और उसमें कौनसा वृक्ष है, जिससे सृष्टि कर्ताने द्यावा पृथ्वीको बनाया? विद्वानों! अपने मनको पूछ देखो कि किस पदार्थके ऊपर खड़ा होकर ईश्वर सारे विश्वको धारण करता है१।

"वह कौनसा गर्भ था जो द्युलोक, पृथ्वी, असुर देवों के पूर्व जलमें अवस्थित था, जिसमें इन्द्रादि सभी देवता रहकर समदृष्टिसे देखते थे२।

"विद्वान् कहते हैं कि सृष्टिसे पहिले सब ओर अन्धकार छाया हुआ था, सभी अज्ञात और जल मग्न था, तपस्याके प्रभावसे वह एक तत्त्व (प्रजापति) पैदा हुआ। उसके मनमें सृष्टिकी इच्छा पैदा हुई। परन्तु इन उक्त बातोंको कौन जानता है? और किसने इन बातोंको बताया? यह विसृष्टि किस उपादान कारणसे पैदा हुई। देवता लोग तो इस विसृष्टिके बाद ही पैदा हुए। इसलिए यह कौन जानता है कि सृष्टि उस प्रकारसे पैदा हुई। यह विस्टष्टि उसमें से पैदा हुई। जो इसका अध्यक्ष है और परम व्योममें रहता है, वही ये बातें जानता होगा और हो सकता है कि वह भी न जानता हो (३)।

(१) ऋग्वेद १०-८१
(२) ऋग्वेद १०-८२
(३) ऋग्वेद १०-१२१

अध्यात्मवादकी ओर

इस प्रकार वैदिक जिज्ञासा तर्कहीन विश्वाससे निकल कर एक सतर्क विचारणाकी ओर बह रही थी। इनकी इस तर्कयुक्त आधिदैविक विचारणामेंसे ही आगे चल कर ईश्वर और सृष्टिप्रलयवाद-मूलक वैशेषिक तथा नैयायिक दर्शनका जन्म हुआ। इसमेंसे ही सृष्टिपूर्व अवस्था सम्बन्धी सत्-असत्, सदसत् रूप तीन वादोंका भी विकास हुआ, उपरोक्त सिद्धान्तोंके निर्माणमें यद्यपि उन आध्यात्मिक आख्यानोंकी गहरी छाप पड़ी है, जो संसार सागरवाद, संसारोच्छेदकपुरुष जन्मवाद, ज्ञानात्मकसृष्टिवाद, तपध्यानविलीनताख्य प्रलयवादके सम्बन्धमें दस्युलोगोंने लघुएशियायी देशोंमें पहिलेसे ही प्रसारित किये हुए थे। तो भी आधिदैविक रूपमें ढलनेके बाद वे उनकी विचारणाकी स्वाभाविक प्रगतिका ही फल कहे जा सकते हैं! परन्तु यह सब कुछ होने पर भी वैदिक विश्व देवता प्रेरित एक निरर्थक वस्तु और मानव एक शुष्क अस्थिकंकालसे आगे न बढ़ सका, एक प्रजापतिवादकी ऋग्वेद १-१८९-१ और १०-८१ में किये गये, '(क्यों कब और कैसे सृष्टिकी रचना हुई)' प्रश्नोंका हल न कर सकी। मस्तिष्क निरन्तर एक ऐसे अहंकारमय चैतन्य तत्त्वकी मांग करता रहा, जो अपनी कामनाओंसे इस विश्वको सार्थक बनादे, और इस कंकालको अपनी मादकता और स्फूर्तिसे उद्दीप्त करदें।

चुनांचे हम आगे चल कर देखते हैं कि इस मांगके अनुरूप ही वैदिक विचारणामें सहसा ही एक ऐसी क्रांतिका उदय हुआ जिसने इसकी दिशाको बाहरसे हटा भीतरकी ओर मोड़ दिया, उसे देवतावादसे निकाल आत्मवादमें जुटा दिया। इस क्रान्तिके फलस्वरूप ही उसे प्रथम वार यह भान हुआ कि रंगरूप वाला विश्व जिसकी चमत्कारिक अभिव्यक्तियोंके आधार पर वह इसे महाशक्ति और बुद्धिमान् देवताओंसे अनुशासित मानता रहा है, सत् होते भी असत् है, ऋतवान् होते हुए भी, अनृतसे भरपूर है, सुन्दर होते भी क्रूर उपद्रवोंका घर है यह रोग-शोक और मौतसे व्याप्त है, यह कभी किसीके वशमें नहीं रहता, इसकी ममता, इसका परिग्रहण बहुत दुःखमय है। अग्नि वायु इन्द्र आदि विश्वदेवताओंमें जो शक्ति दिखाई देती है, वह उनकी अपनी नहीं है। इन्हें उद्विग्न और विलोडित करनेवाली कोई और ही भीतरी ही शक्ति है।

वैदिक विचारणाकी यह क्रान्ति उसकी स्वाभाविक

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रगतिका फल न थी, बल्कि यह भारतकी द्रविड़ संस्कृतिका ही उसे एक अमर देन थी। यही कारण है कि आर्यजातिकी अन्य हिन्दी यूरोपीय शाखाएँ जो यूरोपके अन्य देशोंमें जाकर आबाद हुईं, वे भारतकी दस्युसंस्कृतिका सम्पर्क न मिलनेके कारण अध्यात्मिक वैभवसे सदा वंचित ही बनी रही। ईसा पूर्वकी छठी सदीसे यूनान देशकी सभ्यता और साहित्यमें जो आध्यात्मिक फुट नजर आती है और वहाँ पथ्यगोरस, डायोजिनोस, प्रोटाग्रोरस, जैना, पलेटो, सुकरात, जैसे अध्यात्मवादी महा दार्शनिक दिखाई पड़ते हैं, उनका एकमात्रध्येय आत्मविद्याके अमरदूत भारतीय संतोंको ही है, जो समय समय पर विशेषतया बुद्ध और महावीरकालमें तथा उनके पीछे अशोक और सम्प्रतिकालमें यूनान, ईराक, सिरिया, फिलिस्तीन, इथोपिया, आदि देशोंमें देशना और धर्मप्रवर्तनाके लिए जाते रहे हैं। उन्हींकी दी हुई यह विद्या यूनानसे होती हुई रोमकी ओर प्रसारित हुई है। परन्तु इस सम्बन्धमें यह बात याद रखने योग्य है कि यद्यपि भारतीय सन्तोंके परिभ्रमण और देशनाके कारण यूनानमें आध्यात्मिक विचारोंका उत्कर्ष जरूर हुआ। परन्तु अध्यात्मिक संस्कृतिकी सजीव धारासे अलग रहनेके कारण, ये वहाँ फलीभूत न हो सके। वहाँके लोग इन्हें विदेशी और अपनी परम्परा विरुद्ध समझकर सदा इनका विरोध करते रहे और इन दार्शनिकोंको देवता-द्रोह और अत्याचारका अपराधी ठहरा। इन्हें या तो कारावास में डाल दिया या इन्हें देश छोड़ने पर बाध्य किया। चुनांचे हम देखते हैं कि डायोजिनीस (४०० ई० पूर्व) और प्रोटोगोरस (४६० ई० पूर्व) को एथेन्स नगर छोड़ कर विदेश जाना पड़ा और सुकरात (४०० ई० पूर्व) को विष भरा जाम पी अपने प्राणोंसे विदा लेनी पड़ी। इस अध्यात्मविद्याके साथ जो दुर्व्यवहार उक्त कालमें यूनान निवासियोंने किया वही दुर्व्यवहार आजसे लगभग २००० वर्ष पूर्व फिलिस्तीन निवासी यहूदियोंने प्रभु ईसाकी जान लेकर किया। उन यूनानी दार्शनिकोंके समान प्रभु ईसा पर भारतीय सन्तोंके त्यागी जीवन और उनके उच्च आध्यात्मिक विचारोंका गहरा प्रभाव पड़ा था। भारत यात्रासे लौटने पर जब उसने अपने देशवासियोंमें जीवकी अमरता आत्म-परमात्माकी एकता, अहिंसा संयम, तप, त्याग, प्रायश्चित्त आदि शोध मार्गका प्रचार करना शुरू किया तो उस पर ईश्वर-द्रोह और भ्रष्टाचारका अपराध लगा फांसी पर टांग दिया गया।

❀ ❀ ❀

युग-परिवर्त्तन

श्री मनु 'ज्ञानार्थी' साहित्यरत्न, प्रभाकर

देख रहा हूँ युग-परिवर्त्तन,
यहाँ कहाँ पर स्वार्थ नहीं है ?

आज जगतके मदिरालयमें,
बना मद्यपी पागल मानव
आत्मज्ञानसे शून्य हो चला
परके दुःखका ज्ञान न कण भर
मुख पर तो देवत्व झलकता
अन्तरमें दानवता छाई
वचनोंमें आडम्बर कितना
तदनुसार आचार नहीं है।

देख रहा हूँ युग-परिवर्त्तन,
यहाँ कहाँ पर स्वार्थ नहीं है ?

अपना अहम् बनाये रखना;
परका लघु अस्तित्व मिटाना,
अपना जीवन हो चिर सुखमय;
परके जीवन पर छा जाना,
इसी अहम्की मृग-तृष्णामें;
छलकी चिर-सञ्चित छलनामें;
उलझ रहा है पागल मानव
अपने पनका भान नहीं है।

देख रहा हूँ युग-परिवर्त्तन,
यहाँ कहाँ पर स्वार्थ नहीं है ?

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वैभवकी शृंखलायें

(मनु 'ज्ञानार्थी' साहित्यरत्न, प्रभाकर)

उन दिनों वणिक्-श्रेष्ठ शूरदत्तका वैभव अपनी चरमसीमा पर पहुँच चुका था। मालव-राष्ट्र के प्रिय नृपति शूरसेनने अपनी राजसभामें उन्हें 'राष्ट्र-गौरव' कह कर अनेकों बार सम्मानित किया था पर, अनित्यता जो संसारी पदार्थोंके साथ जुड़ी है, शूरदत्तके वैभवका सूर्य मध्यान्हके बाद धीरे धीरे ढलने लगा। और, शूरदत्तकी मृत्युके बाद तो वैभव कर्पूरकी तरह उड़ गया; विलीन हो गया। लक्ष्मी अपने चंचल चरण रखती हुई न जाने किस ओर बढ़ गई? विशाल भवनमें गृहस्वामिनी है, दो पुत्र हैं, एक पुत्री है किन्तु धनके अभावमें भवन मानो सूना-सूना है। प्रतिक्षण असन्तोष, लज्जा और गत-वैभवका शोक समस्त परिवारमें छाया रहता है।

निर्धनताके बादका वैभव मनुष्यके हृदयको विकसित कर देता है किन्तु वैभवके बादकी दरिद्रता मनुष्यके मनको सदाके लिए कुम्हला देती है। दोनों पुत्र व्यथित थे। हीन दशामें पुरजन और परिजनोंसे निःसंकोच बोलनेका उनमें साहस अवशेष न था। रह-रह कर विचार आता था देशान्तरमें जानेका, किंतु कहाँ जाया जाय?

शूरमित्र बोला—'प्रिय अनुज! यहांसे चलना ही ठीक है।'

शूरचन्द्र बोला—'पर, कहाँ जानेकी सोच रहे हो?' शूरमित्रने दीर्घ निश्वास लेते हुए कहा—'भाई! जहाँ स्थान मिल जाय मुँह छुपानेके लिए। एक ओर पिताका वैभव कहता है उच्च स्तरसे रहनेके लिए, दूसरी ओर दरिद्रता खींचती है बार-बार हीनताकी ओर। बस, चल दें घरसे। मार्ग मिल ही जायगा।

शूरचन्द्र बड़े असमंजसमें था। उसका हृदय परदेशकी दिक्कतोंकी कल्पना मात्रसे बैठ सा गया था। वह अन्यमनस्क होकर बोला—'यहीं कहीं नौकरी करलें। लज्जा-लज्जामें पेट पर बन्धन बाँध कर भूखा रहनेसे तो अच्छा है।'

शूरमित्रने अनुजकी विकलता देखी। आँखोंसे आँसू वह निकले। वह बोला—'भाई! नौकरीका अर्थ है; भाग्यको हमेशा-हमेशाके लिए बेच देना और व्यापारका अर्थ है, भाग्यकी बार-बार परीक्षा करना। देशान्तर चलें, और व्यापर आरम्भ करें, भाग्य होगा तो पुनः बीते दिन लौट आयेंगे।

दूसरे दिन जब सबेरा होने को ही था, दोनों भाई माताका आशिष लेकर रथ्यपुरसे प्रस्थान करके किसी अनजान पथकी ओर बढ़ चले।

× × ×

अनेकों वर्ष व्यतीत हो गये। पद-पद पर भटकते हुए ये दोनों सिंहलदीप जा पहुँचे। प्रयत्न करते, पर कुछ हाथ नहीं आता। भाग्य जैसे रूठ गया है। लक्ष्मीको पकड़नेके लिए शून्यमें हाथ फैलाते किन्तु लक्ष्मी जैसे हाथोंमें आना ही नहीं चाहती। उत्साह और आशा टूटने लगी। देशकी स्मृति दिनों दिन हरी होने लगी। एक दिन, दिन भरकी थकानके बाद जब वे आवासकी ओर लौट ही रहे थे, कि दूर एक प्रकाश-पुञ्ज दृष्टिगोचर हुआ। समीप जाकर देखा तो आश्चर्य और हर्षसे मानों पागल हो गये। प्रकाश-पुञ्ज एक दिव्य-रत्नका था, जिसकी किरणें दिग्-दिगंत में फैल रही थीं। हृदय उमंगोंसे भर गया। भविष्यके लिए सहस्रों सुखद कल्पनायें उठने लगी। शूरमित्र मुस्कराते हुए बोला—'क्या सोचते हो चन्द्र! दिव्य मणि हाथ आ गया है। बस, एक मणि ही पर्याप्त है रूठी हुई चञ्चलाको मनानेके लिए। वैभव फिर लौटेगा, परिजन अपने होंगे, पुरजन अपने होंगे। अब उठ जायँगे हम पुनः दुनियाकी दृष्टिमें, और मालवपतिकी राजसभामें होगा पिता-तुल्य सम्मान। चलो, अब देश चलें। माता और बहिन प्रतीक्षामें होंगी।

× × ×

भविष्यकी मधुर कल्पनाओंमें सहस्रों योजनका

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

मार्ग तय कर लिया गया। धनकी उष्णता मनुष्यको गति देती है, स्फूर्ति देती है। एक दिन चलते-चलते सन्ध्याका समय होने लगा। एक ग्राम समीप ही दृष्टिमें आया। अमूल्य रत्न लेकर ग्राममें जाना उचित न समझ कर अनुज बोला—'भाई! आप मणि लेकर यहीं ठहरें, मैं भोजनकी सामग्री लेकर शीघ्र ही आता हूँ।' इतना कह कर वह ग्रामकी ओर चल दिया।

शूरचन्द्रके अदृश्य होते ही शूरमित्र रत्नको देख-देख कर सोचने लगा—'कितना कीमती है मणि! मणि एक है, बांटने वाले हैं दो? अमूल्य मणि मेरे ही पास क्यों न रहे? चन्द्रको हिस्सेदार बनाया ही क्यों जाय? थोड़ा सा प्रयत्न ही तो करना है चन्द्र चिरनिद्रामें सोया कि रत्न एकका हो गया। एकाकी सम्पूर्ण वैभव, एकाकी सम्पूर्ण प्रतिष्ठा और एकाकी सम्पूर्ण कीर्त्तिकी धारा प्रवाहित होगी मेरे नाम पर। नया घर बसेगा, नवीन वधू आयेगी, सन्तान-परम्परा विकसित होगी। समस्त संगीत भरा संसार एकका होगा। दूसरा क्यों रहे मार्गमें बाधक? पनपनेके पूर्व ही बाधाका अंकुर तोड़ ही क्यों न दिया जाय? काँटा तोड़नेके बाद ही तो फूल हाथ आता है।' लालसाकी तीव्रताने विचारों को धीरे-धीरे दृढ़ बनाना प्रारम्भ कर दिया। वैभवका महल अनुजकी लाश पर रखे जाने-का उपक्रम होने लगा। कुछ समय बाद अनुज सामने आया। उसकी आकृति पर संकोच था। वह समीप आते ही बोला—'भाई! बड़े व्याकुल हो? देर तो नहीं हुई मुझे भोजन लानेमें? लो, अब शीघ्र ही भोजन ग्रहण करो।

अनुजका स्वाभाविक आत्मीयताने ज्येष्ठके विकारी मनको झकझोर डाला। विरोधी विचार टूट टूट कर गिरने लगे। अनायास ही बाल्यकालका अनोखा प्यार स्मृति-पट पर अङ्कित होने लगा। नन्हें-से चन्द्र-की लीलाएँ एक-एक करके चित्रोंकी भांति आँखोंके सामने आने लगीं। ममतासे हृदय गीला हो चला और अनुजको खींच कर अपने हृदयसे लगाते हुए वह बोला—"चन्द्र! यह रत्न अपने पास ही रखो। रत्नका भार अब असह्य हो चला है। छोटेसे मणिने मेरे आत्मिक सन्तुलनको नष्ट कर देनेका दुस्साहस किया है।" इतना कहते-कहते उसने रत्नको अनुजके हाथोंमें सौंप दिया। अनुजकी समझमें यह विचित्र घटना एक पहेली बन कर रह गई। प्रभात होते ही फिर प्रस्थान किया। धीरे धीरे पुनः दिन ढलने लगा। पुनः किसी नगरके समीप बसेरा किया। ज्येष्ठ बोला—"मणि सम्हाल कर रखना, मैं भोजन लेकर शीघ्र ही लौटूँगा।" इतना कह कर वह नगरकी ओर चल दिया।

शूरमित्रके जानेके बाद शूरचन्द्रने रत्न निकाल कर हथेली पर रखा। उसे ऐसा लगा मानों सारा विश्व ही उसकी हथेली पर नाच रहा हो। कितना कीमती है? करोड़ स्वर्ण मुद्राओंका होगा? नहीं, इससे भी अधिकका है। पर, मैं क्यों मानता हूँ इसे केवल अपना? ज्येष्ट भ्राताका भी तो भाग है इसमें। ऊंह! होगा ज्येष्टका हिस्सा। बांटना, न बांटना मेरे ही तो आधीन है आज। पर, कैसे होगा ऐसा? रास्तेसे हटाना होगा? वैभवकी पूर्णताके लिये बड़े-बड़े पुरुषोंने भी पिता तकका वध किया है। वैभव और प्रतिष्ठाकी राहसे द्वित्वको हटाना ही होता है। ज्येष्ट भ्राता है, पर विभाजन तो उसीके कारण है। सारे कृत्योंका श्रेय ज्येष्ठको ही मिलता है और अनुज आता है बहुत समय बाद दुनियां की दृष्टिमें। ज्येष्ठ ही वैभव और प्रतिष्ठा पर दीर्घकाल तक छाया रहे, यह कैसे सहन होगा? सामने ही अन्धकूप है, पानी भरनेको जायगा। बस, एक ही धक्केका तो काम है।" इन्हीं रौद्र विचारोंमें उसके भविष्यका मधुर-स्वप्न और भी रंगीन हो चला।

"पत्नी आयेगी। भवन किलकारियोंसे भर जाएगा। वह भी एकमात्र घरकी अधिस्वामिनी क्यों न होगी? जेठानीका अंकुश क्यों होगा उसके ऊपर? वह स्वा-धीन होगी, एकमात्र स्वामित्व होगा उसका भृत्य-वर्ग पर।"

इसी समय शूरमित्र आता हुआ दिखाई दिया। शूरचन्द्र भयसे सहसा कांप गया। दुष्कल्पनाओंने उसके मनको विचलित कर दिया। आकृति पर पीला-पन छा गया। सोचने लगा—"ज्येष्ठकी आकृति पर हास क्यों? क्या समझ गया है उसकी विचार धारा-को?"

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

शूरमित्र समीप आते ही बोला—चन्द्र ! बेचैन क्यों हो ? कुछ देर तो अवश्य हो गई है। लो; अब जल्दी ही भोजन करो।" यह कहते-कहते उसने बड़े स्नेहसे अनुजके सामने भोजन सामग्री रख दी।

अनुजका मन स्नेहके बन्धनमें आने लगा। अपने मानसिक पतन पर रह-रह कर उसे पश्चाताप होने लगा—"ज्येष्ठ भ्राता पिता-तुल्य होता है। कितना नीच हूँ मैं ? एक मणिके लिए ज्येष्ठ भ्राताका वध करनेको उद्यत हुआ हूँ ! वाह रे मानव ! क्षुद्र स्वार्थके भीषणतम स्वप्न बनाने लगा ! भ्रातृद्रोही ! तुझे शान्ति न मिलेगी। तेरी कलुषित आत्मा जन्म-जन्मान्तर तक भटकती रहेगी। वाह री वैभवकी आग ! अन्तरके स्नेहको जलानेके लिए मैं ही अभागा मिला था तुझे ? अनुज विचारोंमें खो रहा था और ज्येष्ठ उसके मस्तक पर हाथ रखकर सींच रहा था स्नेह। स्नेहकी धारा बहने लगी और बहने लगा उसमें अनुजका विकारी मन। शूरचन्द्र अपने आपको अधिक समय तक न सम्हाल सका, स्नेहसे गद्-गद् होता हुआ वह, शूरमित्रके चरणोंमें लोटने लगा। कैसी थी वह आत्मग्लानिकी पीड़ा ? हृदय भीतर ही भीतर छटपटा रहा था। जैसे अन्तरमें कोई मुष्टिका प्रहार ही कर रहा हो। अनुज कराह उठा। वह टूटे कण्ठसे बोला—हे ज्येष्ठ भ्रात ! हे पितातुल्य भ्रात ! लो इस पापी मणिको। लो इस पतनकी आधार-शिलाको। दो हृदयोंमें दीवार बनाने वाले इस पत्थरको आप ही सम्हालो एक क्षण भी यह भार असह्य है मुझे ज्येष्ठ !

ज्येष्ठकी आँखोंसे धारा बह रही थी। वह लड़खड़ाते स्वरमें बोला—"अनुज ! कैसे रखूँ इसे अपने पास ? सबसे पहले तो पापी मणिने मुझे ही गिराया है मानसिक शुद्धिके मार्गसे। रत्नके दावमें आते ही मैं दानव हो जाता हूँ। तुम इसे रखनेमें असमर्थ हो, मैं इसे रखनेके लिए और भी पहले असमर्थ हूँ। क्या किया जाय इस रत्नका ?"

शूरचन्द्र मौन था ! प्राणोंमें कम्पन तीव्र वेगसे उठने लगा। मौन-भंग करते हुए वह बोला—"क्या करना इस पत्थरका ? फेंक दो बेतवाके प्रवाहमें। भाई उतार दो इस जघन्यतम अभिशापको।" इतना सुनते ही शूरमित्रने वह अमूल्य मणि बेतवाके प्रवाहमें इस प्रकार फेंक दिया जैसे चरवाहोंके बच्चे मध्यान्हमें नदीके तीर पर बैठ कर जलमें तरंगे उठानेके लिए कंकड़ फेंकते हैं। रत्नके जलमें विलीन होते ही दोनोंने सुखकी साँस ली, स्नेहका गढ़ अभेद्य हो गया। अब उसमें लालच जैसे प्रबल शत्रुके प्रवेशके लिए कोई मार्ग अवशेष न था। मार्ग तय हो चुका था। स्नेहसे परिपूर्ण दोनों भाई अपने घर जा पहुंचे।

❀ ❀ ❀

पुत्र-युगलका मुख देखते ही माताकी ममता उमड़ने लगी। बहिनने दौड़ कर उन्हें हृदयसे लगा लिया ! माँ बोली—कैसा समय बीता परदेशमें ?

शूरमित्र गम्भीरता पूर्वक बोला—माँ ! परदेश तो परदेश है। सुख दुख सब सहन करने पड़ते हैं। जीवनके हर्ष विषाद सामने आए, प्रलोभन आए। सब पर विजय पाकर दोनों उसी स्नेहसे परिपूर्ण आपके सामने हैं।

माता पुत्रोंके विश्राम और भोजनके प्रबन्धके लिए व्याकुल थी। समस्त छोटी-मोटी बातें रात्रिके लिए छोड़ कर वह बाजार गई और रोहित नामक मछली लेकर घर आ पहुंची। पुत्रीने सारा सामान व्यवस्थित कर ही दिया था। उसने ज्यों ही मछली को थोड़ा चीरा ही था कि हाथ सहसा रुक गये, आश्चर्यसे मुख विस्फारित होकर रह गया। मछलीके पेटमें दिव्य-मणि ! हाथमें मणि लेते ही वह सोचने लगी—आज वर्षोंके बाद देखा है ऐसा महार्घ मणि। वर्षोंका दारिद्र नष्ट होनेको है क्षण भरमें। पुत्रोंको दिखाऊँ क्या ? ऊँह क्या दिखाना है पुत्रोंको। कौन किसका है ? बुढ़ापा आया कि सन्तान उपेक्षाकी दृष्टिसे देखने लगी। भोजन, वस्त्र ही नहीं पानी तकको तरसते हैं, वृद्ध माँ-बाप। बहुएं नाक-भौंह सिकोड़ती हैं, पुत्र घृणासे मुँह फेर लेते हैं। बुढ़ापेका सहारा मिल गया है। क्यों हाथसे जाने दूं ? पर, कैसे भोग सकूँगी इसे ? मार्गसे हटाना होगा पुत्र-पुत्रीके जंजाल को ? क्यों नहीं, रत्नका प्रतिफल तभी तो पूरा मिलेगा, संसारमें पुत्रोंसे नहीं, धनसे मान मिलता है। एक बूंद हलाहलका ही तो काम है।"

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इसी समय पुत्रीने भोजन-कक्षमें प्रवेश किया। आते ही वह बोली—'कितना सुहावना लगता है आज भवनमें। धन भले ही न हो, पुत्र रत्न तो हैं, मनकी शान्तिके लिये। तुम कितनी भाग्यवान हो माँ!

पुत्रीके शब्द सुनते ही उसे एक धक्का सा लगा। चेतना पुनः जागृत हुई। मन धीरे-धीरे विवेककी ओर मुड़ने लगा। सोचने लगी—"ऋषियोंने-कहा है पुत्र, कुपुत्र हो सकता है पर माता, कुमाता नहीं होती। और मैं? वाह री माता! नौ माह जिन्हें गर्भमें धारण किया, जिनका मुँह देख कर प्रसव पीड़ा भी भूल गई, जिनके मुखको देख-देखकर एक एक क्षण आत्मविस्मृतिमें समाप्त हुआ, जिनकी किलकारियोंसे सारा भवन भरा रहा, आज उसी अपने रक्तको कुचलने चलो है माता? बस, एक पत्थरके टुकड़ेके लिए? धिक् पापिष्ठे! अचेतनके लिये चेतनका व्याघात करने चली है?" इतना सोचते हुए उसने अन्यमनस्क भावसे कहा—"पुत्री! देखो, यह मूल्यवान रत्न है। सम्हाल कर रखना।"

मित्रवतीने रत्नको हाथमें लिया पर माताकी अन्यमनस्कता वह समझ न सकी। धनमें बड़ा नशा है। जब यह नशा चढ़ता है तो बेहोश हो जाता है प्राणी। विवेककी आँखें बन्द हो जाती हैं। अदृश्यपूर्व था रत्न। सोचने लगी—कौन-किसका भाई? कौन-किसकी माँ? सब स्वार्थके सगे हैं। गरीब बहिनको किसने प्यार दिया है? भाई वैभवके नशेमें चूर रहते हैं और बहिन दर-दरकी ठोकरें खाती है। क्यों न सुलादूँ सदाके लिए। धनवान युवतीके लिए कल्पनातीत वर भी तो मिल जाता है। आश्चर्यकी क्या बात है···?

भोजन तैयार हो चुका था मां बेटोंको लेकर भोजन-भवनमें आई। शूरमित्र बोला—चन्द्र आज तो बहिन मित्रवतीके साथ भोजन करेंगे। याद है जब छोटी सी गुड़ियोंकी तरह इसे लिए फिरते थे? चिढ़ाते थे, रुलाते थे, मनाते थे इसे।" इतना कहते-कहते उसने मित्रवतीको अपने थालके समीप ही खींच लिया दोनों भाई स्वयं खाते, बहिनको खिलाते, भवनमें आनन्दकी लहर दौड़ गई।

पर, मित्रवती तो जैसे धरतीमें धँसी जा रही है। भाइयोंकी ओर देखनेका उस साहस नहीं होता। पाप जो सिर पर चढ़ कर बोल रहा है। वह फफक-फफक कर रो पड़ी। माँका प्यार स्मरण आने लगा। वे लोरियाँ स्मरण आने जो उसे सुलानेके लिए मां बचपन में गाती रही थी। वे कौतुक याद आने लगे जो बचपनमें स्नेह-सिक्त होकर भाइयोंके साथ किए थे। छिः पापिष्ठे! जन्म दात्री माताका हनन करने चली है? वाह री भगिनी! फूलसे कोमल भाइयोंको मारने चली है, एक पाषाण-खण्डके लिए?

बहिनकी करुण स्थिति देख कर दोनों भाई सोच रहे थे कितना स्नेह है दोनोंके प्रति बहिनका, सारा-का सारा स्नेह जैसे आंसुओंकी धारा बन कर बहा जा रहा है।

मित्रवती भोजन करनेके बाद बहुत समय तक एकान्तमें रोती रही। पश्चातापकी ज्वालामें जलती हुई वह रात्रिके समय भाइयोंके कक्षमें जा पहुंची। हृदयकी समस्त वेदनाको अन्तरमें छुपा कर वह मुस्कराती हुई बोली—लो भैया! एक रत्न है यह मूल्यवान। इसे अपने पास रखो। रत्न देखते ही दोनों सारा रहस्य समझ गये। बहिनके रत्न-दानका रहस्य सोच कर उनमें संसारके प्रति एक विचित्र सी अरुचि होने लगी। माता भी गृह-कार्यसे निवृत होकर आ पहुँची। देश विदेशकी चर्चाओंके बाद उन्होंने मातासे कहा—'माँ! दरिद्रता कोई बुरी वस्तु नहीं। दरिद्रतामें व्यक्ति इतना दुःखी नहीं जितना वैभव पानेके बाद। दरिद्रता व्यक्तिके लिए वरदान है। वैभवकी अपेक्षा दरिद्रतामें शान्ति है, तृप्ति है।'

माँ ने बेटोंकी ओर प्रश्न-सूचक दृष्टिसे देखा। मानों जानना चाहती है कि वैभवमें अशान्ति कैसी?

शूरमित्र बोला—माँ! एक रत्न मिला था हम दोनोंका, जिसे संसार सम्पदा मानता है। रत्न हाथ में आते ही मैंने एकाकी ऐश्वर्यके काल्पनिक सपने बना लिए। अनुजको मार कर वैभवकी एकाकी भोगनेकी विषैली महत्वाकांक्षा मनमें भड़कने लगी। भाग्यसे मनमें स्नेहकी धारा वह निकली, अन्यथा भ्रातृ-हत्याका पाप जन्म-जन्ममें लिए भटकता फिरता। शूरचन्द्र बोला—माँ! ज्येष्ठ भ्राताने रत्न मुझे सौप दिया था

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

किन्तु कुछ समझमें न आ सका था। धनकी मदिरा पीते समय कुछ न सोचा। थोड़ी देरमें वही नशा मुझे भी बेहोश बनाने लगा, जिसका परिणाम ज्येष्ठ भोग चुका था। अन्ध-कूपमें गिरानेका दृढ़ निश्चय कर लिया। किन्तु स्नेहने विकारी मनको रोक दिया, बाँध दिया। बच गया पापके पङ्कमें गिरते-गिरते। किंतु माँ! ज्ञात होता है पापका बीज फिर आगया है इस घर में। मित्रवती द्वारा अर्पित रत्न वही रत्न है, माँ।

माँ की आकृति पर विषादकी रेखायें गहरी हो चलीं। शूरमित्र बोला— माँ! अब दुखी होनेसे क्या लाभ? इस रत्नको अपने पास रखो। माँ! तुम जन्म-दात्री हो, पवित्र हो, गंगा-जलकी भांति। सन्तानके लिए माताके मनमें कल्पना भी नहीं आ सकती, खोटी।'

पुत्रोंकी बात सुन माँका विषाद आँखोंकी राहसे वह निकला। वह भर्रायी हुई ध्वनिमें बोली—'बेटा! वैभवकी लालसा बड़ी निष्ठुर है। उसे पानेके लिए माँ भी सन्तानको मारनेके लिए कटिबद्ध हो जाय, तो इसमें क्या आश्चर्य है? वैभवकी क्षुधा सर्पिणीकी प्रसव कालीन क्षुधा है जो अपनी सन्तानको निगलने पर ही शान्त होती है। मैंने भी मछलीके पेटको चीरते समय ज्यों ही रत्न देखा, मित्रवती और तुम दोनोंको मार डालनेके विचार बलवान होने लगे। पर माँकी ममताने विजय पायी और मैंने ही बड़ी ग्लानिसे मित्रवतीको दे दिया था; वह रत्न।'

मित्रवती बोली—'माँ! मैं भी हतबुद्धि हो चली थी रत्न पानेके बाद लालसाने पारीवारिक बन्धन ढीले कर दिये थे। एक विचित्र पागलपन चलने लगा था मस्तिष्कमें। सौभाग्य है कि दुर्विचार शांत हो गये हैं।'

× × ×

किसी अदृश्य शक्तिके न्यायालयमें चार अपराधी अपना-अपना हृदय खोल कर अचल हो गये थे। चारों ओर स्मशान जैसी भयानक नीरवता थी। पश्चातापकी लपटें सूं-सूं करके पापी हृदयोंका दाह-संस्कार कर रही थीं। एककी ओर देखनेका दूसरेमें साहस न था। मस्तक नत थे, वाणी जड़ थी, विवेक गतिमान था।

शूरमित्र बोला भारी मनसे—'माँ! इस संसारके थपेड़े अब सहन नहीं होते। काम, क्रोध, माया और लालसाका ज्वार उठ रहा है पल पलमें। आत्मा क्षत-विक्षत हो रही है, आधारहीन भटक रही है जहाँ-तहाँ। संसारी सुखोंकी मृग-तृष्णामें कब तक छलूं अपने आपको। दूर किसी नीरव प्रदेशसे कोई आह्वान कर रहा है। कितना मधुर है वह ध्वनि? कितना संगीत-मय है वह नाद? अनादि परम्परा विघटित होना चाहती हैं। देव! अब सहा नहीं जाता। शरण दो, शान्ति दो।'

शूरमित्र ही नहीं सारे परिवारका वह करुण चीत्कार था; विकलता थी; विरक्ति थी, जो उन्हें कि अज्ञात पथकी ओर खींच रही थी।

× × ×

प्रभातका समय है। दिनकरकी कोमल किरणें धरती पर नृत्य करने लगी है। दो युवा पुत्र, पुत्री और माता मुनिराजके चरणोंमें नतमस्तक हैं। अरहंत शरणं गच्छामि! धर्मशरणं गच्छामि!! साधु शरणं गच्छामि!!! की ध्वनिसे दिग्-दिगन्त व्याप्त है। वैभवकी शृङ्खलायें, जो मानवको पापमें जकड़ देती हैं, खण्ड खण्ड हो गई हैं। उदय-कालीन सूर्यकी रश्मियाँ पल-पल पर उनका अभिषेक कर रही है। आज उनकी आत्मामें अनन्त शान्ति है।

आवश्यक सूचना

आगामी वर्षसे अनेकान्तका वार्षिक मूल्य छह रुपया कर दिया गया है। कृपया ग्राहक महानुभाव छह रुपया ही भेजनेका कष्ट करें।

मैनेजर—'अनेकान्त'

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

धर्म और राष्ट्र निर्माण

(लेखक—आचार्य श्रीतुलसी)

धर्म उत्कृष्ट मंगल है। प्रश्न होता है—कौन सा धर्म? क्या जैनधर्म, क्या बौद्धधर्म, क्या वैदिक धर्म? नहीं यहाँ जो धर्मका स्वरूप बताया गया है वह जैन, बौद्ध या वैदिक सम्प्रदायसे सम्बन्धित नहीं। उसका स्वरूप है—अहिंसा, संयम और तप। जिस व्यक्तिमें यह त्रयात्मक धर्म अवतरित हुआ है उस व्यक्तिके चरणोंमें देव और देवेन्द्र अपने मुकुट रखते हैं। देवता कोई कपोल-कल्पना नहीं है; वह भी एक मनुष्य जैसा ही प्राणी है। यह है एक असाम्प्रदायिक विशुद्ध धर्मका स्वरूप।

आप पूछेंगे—महाराज! आप किस सम्प्रदायके धर्मको अच्छा मानते हैं? मैं कहूंगा—सम्प्रदायमें धर्म नहीं है; वे तो धर्मप्रचारक संस्थायें हैं। वास्तवमें जो धर्म जीवन-शुद्धिका मार्ग दिखलाता है वही धर्म मुझे मान्य है। फिर चाहे उस धर्मके उपदेष्टा और प्रवर्तक कोई भी क्यों न हो? जीवन शुध्यात्मक धर्म सनातन और अपरिवर्तनशील है। वह चाहे कहीं भी हो, मुझे सहर्ष ग्राह्य है।

आज जो विषय रखा गया है वह सदाकी अपेक्षा कुछ जटिल है। जहाँ हम सब आत्मनिर्माण, व्यक्ति-निर्माण और जननिर्माणको लेकर धर्मकी उपयोगिता और औचित्य पर प्रकाश डाला करते हैं, आज वहाँ राष्ट्रनिर्माणका सवाल जोड़ कर धर्मक्षेत्रकी विशालताकी परीक्षाके लिए उसे कसौटी पर उपस्थित करना है। इस विषय पर जिन वक्ताओंने आज दिल खोल कर असंकीर्ण दृष्टिकोणसे अपने विचार प्रकट किये हैं इस पर मुझे प्रसन्नता है।

राष्ट्र-विध्वंस

विषयमें प्रविष्ट होते ही सबसे पहले प्रश्न यह होता है कि राष्ट्र-निर्माण कहते किसे हैं? क्या राष्ट्रकी-दूर-दूर तक सीमा बढ़ा देना राष्ट्र-निर्माण है? क्या सेना बढ़ाना राष्ट्र-निर्माण है? क्या संहारके अस्त्र-शस्त्रोंका निर्माण व संग्रह करना राष्ट्र-निर्माण है? क्या भौतिक व वैज्ञानिक नये-नये आविष्कार करना राष्ट्र-निर्माण है? क्या सोना-चाँदी और रुपये पैसोंका संचय करना राष्ट्र-निर्माण है? क्या अन्याय शक्तियों व राष्ट्रोंको कुचल कर उन पर अपनी शक्तिका सिक्का जमा लेना राष्ट्र-निर्माण है। यदि इन्हींका नाम राष्ट्र-निर्माण होता है तो मैं बल पूर्वक कहूँगा—यह राष्ट्र-निर्माण नहीं; बल्कि राष्ट्रका विध्वंस है, विनाश है। ऐसे राष्ट्रके निर्माणमें धर्म कभी भी सहायक नहीं हो सकता। ऐसे राष्ट्र-निर्माणसे धर्मका न कभी सम्बन्ध था और न कभी होना ही चाहिए। यदि किसी धर्मसे ऐसा होता हो तो मैं कहूँगा—वह धर्म, धर्म नहीं, बल्कि धर्मके नाम पर कलंक है। धर्म राष्ट्रके कलेवरका नहीं उसकी आत्माका निर्माता है। वह राष्ट्रके जन-जनमें फैली हुई बुराइयोंको हृदय परिवर्तनके द्वारा मिटाता है। हम जिस धर्मकी विवेचना करना चाहते हैं वह कभी उपरोक्त राष्ट्रके निर्माणमें अपना अणुभर भी सहयोग नहीं दे सकता।

धर्मसे सब कुछ चाहते हैं

धर्मकी विवेचना करनेके पहले हम यह भी कुछ सोच लें कि धर्मकी आज क्या स्थिति है? और लोगोंके द्वारा वह किस रूपमें प्रयुज्य है? धर्मके विषयमें आज लोगोंकी सबसे बड़ी जो भूल हो रही है वह यह है कि धर्मको अपना उपकारी समझ कर उसे कोई बधाई दे या न दे परन्तु दुत्कार आज उसे सबसे पहले ही दी जाती है। अच्छा काम हुआ तो मनुष्य बड़े गर्वसे कहेगा—मैंने किया है; और बुरा काम हो जाता है तो कहा जाता है कि परमात्माकी ऐसी ही मर्जी थी? आगे न देखकर चलनेवाला पत्थरसे टक्कर खाने पर यही कहेगा कि किस बेवकूफने रास्तेमें पत्थर ला कर रख दिया। मगर वह इस ओर तो कोई ध्यान ही नहीं देता कि यह मेरे देख कर न चलनेका ही परिणाम है। लोगोंकी कुछ ऐसी ही आदत पड़ गई है कि वे दोषोंको अपने सिर पर लेना नहीं चाहते, दूसरोंके सिर पर ही मढ़ना चाहते हैं। अहिंसाका उपयुक्त पालन तो स्वयं नहीं करते और अपनी कमजोरियों, भीरुता और कायरताका दोषारोपण करते हैं—अहिंसा पर। धर्मके उसूलों पर स्वयं तो चलते नहीं और भारतकी दुर्दशाका दोष थोपते हैं—धर्म पर। मेरी दृष्टिमें यह भी एक भयंकर भूल है कि लोग अच्छा या बुरा सब कुछ धर्मके द्वारा ही पाना चाहते हैं, मानो धर्म कोई 'कामकुम्भ'

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ही है। कहा जाता है—कामकुम्भसे जो कुछ भी मांगा जाता है वह सब मिल जाता है। मुझे यहाँ नीचेका एक छोटा सा किस्सा याद आता है:—

"एक बेवकूफको संयोगसे कामकुम्भ मिल गया। उसने सोचा—मकान, वस्त्र, सोना-चाँदी आदि अच्छी चीजें तो इससे सब मिलती ही हैं पर देखें शराब जैसी बुरी चीज भी मिलती है या नहीं। ज्योंही शराब माँगी त्योंही शराबसे छलाछल भरा प्याला उसके सामने आ गया। अब वह सोचने लगा—शराब तो ठीक, मगर इसमें नशा है या नहीं। पीकर परीक्षा करूँ। पीनेके बाद जब नशा चढ़ा और मस्ती आई तब वह सोचने लगा—वेश्याओंके नयन-मनोहारी नृत्यके बिना तो सब कुछ फीका ही है। विलम्ब क्या था। कामकुम्भके प्रभावसे वह भी होने लगा। तब उसने सोचा—देखें, मैं इस कामकुम्भको सिर पर रखकर नाच सकता हूँ या नहीं; आखिर होना क्या था? कामकुम्भ धरती पर गिरकर चकनाचूर हो गया। वेश्याओंके नृत्य बन्द हो गए और जब उस बेवकूफकी आँखें खुली तो उस कामकुम्भके फूटे टुकड़ोंके साथ-साथ उसे अपना भाग्य भी फूटा हुआ मिला।

कहनेका तात्पर्य यह है कि लोग कामकुम्भकी तरह धर्मसे सब कुछ पाना चाहते हैं। मगर इसके साथ मजेकी बात यह है कि अगर अच्छा हो जाय तो धर्मको कोई बधाई नहीं देता। उसके लिए तो अपना अहंकार प्रदर्शित किया जाता है और अगर बुरा हो गया तो फिर धर्म पर दुत्कारोंकी बौछार कर उसकी चाम उधेड़ ली जाती है। आप यह निश्चित समझें कि धर्म किसीका बुरा करने या बुरा देनेके लिए है ही नहीं। वह तो प्रत्येक व्यक्तिका सुधार करनेके लिए है और उसका इसीलिए उपयोग होना चाहिए।

राष्ट्र और धर्म

अब यह सोचना है कि धर्मका राष्ट्र-निर्माणसे क्या सम्बन्ध है। वास्तवमें राष्ट्रके आत्मनिर्माणका जहाँ सवाल है वहाँ धर्मका राष्ट्रसे गहरा सम्बंध है। मेरी दृष्टिमें राष्ट्रकी आत्मा मानव समाजके अतिरिक्त दूसरी सम्भव नहीं। मानव-समाज व्यक्तियोंका समूह है और व्यक्ति-निर्माण धर्मका अमर व अमिट नारा है ही। इस दृष्टिसे राष्ट्र-निर्माण धर्मसे सीधा सम्बन्ध है। धर्म रहित राष्ट्र राष्ट्र नहीं अपितु प्राण शून्य कलेवरके समान है। राष्ट्रकी आत्मा तब ही स्वस्थ मजबूत और प्रसन्न रह सकती है जब कि उसमें धर्मके तत्त्व घुले-मिले हों।

व्यवस्था और धर्म दो हैं

धर्म क्या राष्ट्र और क्या समाज दोनोंका ही निर्माता है, किन्तु जब उसको राज्य-व्यवस्था व समाज-व्यवस्थामें मिला दिया जाता है तब राज्य और समाज—दोनोंमें भयंकर गड़-बड़का सूत्रपात होता है किन्तु इसके साथ-साथ धर्मके प्राण भी संकटमें पड़ जाते हैं। लोगोंकी मनोवृत्ति ही कुछ ऐसी है कि यहां साधारणसे साधारण कार्यमें भी धर्मकी मोहर लगा दी जाती है। किसीको जल पिला दिया, या किसीको भोजन करा दिया, बस इतने मात्रसे आपने बहुत बड़ा धर्मोपार्जन कर लिया! यह क्या है? इसमें धर्मकी दुहाई क्यों दी जाती है? और धर्मको ऐसे संकीर्ण धरातल पर क्यों घसीटा जाता है? ये सब तो धर्मके धरातलसे बहुत नीचे एक साधारण व्यवस्था और नागरिक कर्तव्यकी चीजें हैं। व्यवस्था और धर्मको मिलानेसे जहाँ धर्मका अहित होता है वहाँ व्यवस्था भी लड़खड़ा जाती है। धर्म, व्यवस्था और सामाजिक कर्तव्यसे बहुत ऊपर आत्म-निर्माणकी शक्तिका नाम है। भौतिक शक्तियोंकी अभिवृद्धिके साथ उसका कोई सम्बन्ध नहीं और न उसका यह लक्ष्य ही है कि वे मिलें। आज राजनैतिक नेता उस आवाजको बुलन्द अवश्य करने लगे हैं कि धर्मको राजनीतिसे परे रखा जाय पर हम तो शताब्दियोंसे यही आवाज़ बुलन्द करते आ रहे हैं। मेरा यह निश्चित अभिमत है कि यदि धर्मको राजनीतिसे अलग नहीं रखा जाएगा तो जिस प्रकार एक समय 'इस्लाम खतरे' का नारा बुलन्द हुआ था उसी प्रकार 'कहीं और कोई धर्म खतरेमें' ऐसा नारा न गूंज उठे। मैं समझता हूँ यदि धार्मिक लोग सजग व सचेत रहें तो कोई कारण नहीं कि भविष्यमें यह त्रुटी दुहरायी जाय।

धर्म-निरपेक्ष राज्य

भारतीय संविधानमें धर्मको जो धर्म-निरपेक्ष राज्य बताया गया है उसको लेकर भी आज अनेक भ्रान्तियाँ और उलझने फैली हुई हैं। कोई इसका अर्थ धर्महीन राज्य करता है तो कोई 'नास्तिक राज्य'। कोई आध्यात्मिक राज्य करता है तो कोई पापी राज्य। देहली प्रवासमें जब मेरा संविधान विशेषज्ञोंसे सम्पर्क हुआ तो मैंने उनसे इस विषयमें चर्चा की।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

उन्होंने बताया—"महाराज ! लोग जैसा अर्थ करते हैं वास्तव में इस शब्दका वह अर्थ नहीं है। इसका मतलब यह है कि यह राज्य किसी धर्म-सम्प्रदाय विशेषका न होकर समस्त धर्म सम्प्रदायोंका राज्य है।" वास्तवमें यह ठीक ही है जैसे अभी-अभी स्वामीजी (काशीके मण्डलेश्वर) ने बताया कि भारतमें एक हजार धर्म और सम्प्रदाय प्रचलित हैं। अगर किसी धर्म या सम्प्रदाय विशेषका राज्य स्थापित किया जाय तो मार्ग सम नहीं रहेगा, प्रत्युत बड़ा विषम व कण्टकाकीर्ण बन जायगा। इतने धर्म सम्प्रदायोंमें किसी एक धर्म या सम्प्रदाय विशेष पर यह सेहरा बाँधना अनेक जटिल समस्याओंसे खाली नहीं है। मेरे विचारसे ऐसा होना नहीं चाहिए। धर्मको राज्यके संकीर्ण व परिवर्तनशील फंदेमें फंसाना राज्यको भयंकर खतरेके मुँहमें ढकेलना और धर्मको गन्दा व सड़ीला बनाना है। विनाश कारक बनाना है। ये दो अलग-अलग धारायें हैं और दोनोंका अलग-अलग अस्तित्व, महत्त्व और मार्ग है। इनको मिलाकर एक करना न तो बुद्धिमत्ता ही है और न कल्याणकर ही।

संकीर्णता न रहे

यह भी आजका एक सवाल है कि अलग-अलग इतनी अधिक संख्यामें सम्प्रदाय क्यों प्रचलित है? क्या इन सबको मिलाकर एक नहीं किया जा सकता। मैं मानता हूँ कि ऐसा करना असम्भव तो नहीं है फिर भी जो सदासे अलग-अलग विचारधारा चली आरही हैं उन सबको खत्मकर एक कर दिया जाय यह बुद्धि और कल्पनासे कुछ परे जैसी बात है। मैं इस विषयमें ऐसा कहा करता हूं कि पारस्परिक विचारभेद मिट जाय। जब यह भी संभव नहीं तो ऐसी परिस्थितिमें पारस्परिक जो मनोभेद और आपसी विग्रह हैं उनको तो अवश्य मिटाना ही चाहिये। उनको मिटाये विना धार्मिक संस्कारको क्या तो दें और क्या लें इसका निर्णय कैसे करें? इसलिये इस विभेदकी दीवार किसी धार्मिक व्यक्तिके लिये इष्ट नहीं। यदि परस्पर मिलकर धार्मिक व्यक्ति कुछ विचार-विमर्श ही नहीं कर सकते तो वे कहां कैसे जायें? वे कहां बैठेंगे, हम कहां बैठेंगे। यदि हम लोग ऐसी ही तुच्छ व संकीर्ण बातोंमें उलझते रहे तो मैं कहूंगा—ऐसे संकीर्ण धार्मिक व्यक्ति धर्मकी उन्नतिके बदले धर्मकी अवनति ही करनेवाले हैं और वे धर्मके मौलिक तथ्यसे अभी कोसों दूर हैं। जिन धार्मिक व्यक्तियोंमें संकीर्णता व असहिष्णुता घर कर गई है वे सपनेमें भी कभी आगे नहीं बढ़ सकते। इ प्रकार घरपर किसी अभ्यागतका तिरस्कार करना भी इसी सूचक है कि असलियतमें धर्म अभी आत्मामें उतरा नहीं है धर्म कभी नहीं सिखाता कि किसीके साथ अनुचित व अशि ष्टतापूर्वक व्यवहार किया जाय। वास्तवमें भूतकालमें भारतकी जो प्रतिष्ठा थी, जो उसका गौरव था वह इसलिये नहीं थ कि भारत एक धनाढ्य व समृद्धिशाली राज्य था और न व इसलिये ही था कि यहां कुछ विस्मयोत्पादक आविष्कार व शक्तिशाली राजा-महाराजा तथा सम्राट् थे। इसका जो गौर था वह इसलिये था कि यहांके कण-कणमें धर्म, सदाचार, नीति, न्याय और नियन्त्रणकी पावन पुनीत धारा बहती रहती थी। सत्य और ईमानदारी यहांके अणु-अणुमें कूट-कूटकर भरी हुई थी। तभी बाहरके लोग यहांकी धर्मनीतिका अध्ययन करनेके लिये यहां पर आनेको विशेष उत्सुक व लालायित रहते थे। आज प्रत्येक भारतीयका यह कर्तव्य है कि वह विचार करे कि आज हम उस समृद्धिशाली विश्वगुरु भारतकी संतानें अपनी मूलपूंजी संभाले हुए हैं या नहीं। यदि भारतीय लोग ही अपनी मूलपूंजीको भूल बैठेंगे तो क्या यह उनके लिये विडम्बनाकी बात नहीं है? कहते हुए खेद होता है कि यहां पर नित्य नये धर्म व सम्प्रदायोंके पैदा होनेके बावजूद भी न तो भारत की कुछ प्रतिष्ठा ही बढ़ी है और न कुछ गौरव ही! प्रत्युत सत्य तो यह है कि उल्टी प्रतिष्ठा एवं गौरव घटे हैं। अगर अब भी स्थितिने पल्टा नहीं खाया और यह स्थिति मौजूद रही तो मुझे कहने दीजिये कि धार्मिक व्यक्ति अपनी इज्जत और शान दोनोंको गँवा बैठेंगे।

धर्म और लौकिक अभ्युदय—

इतने विवेचनके बाद अब मुझे यह बताना है कि वास्तवमें धर्म है क्या? इसके लिये मैं आपको बहुत थोड़े और सरल शब्दोंमें बताऊँ तो धर्मकी परिभाषा इस प्रकार की जा सकती है कि जो 'आत्मशुद्धि'के साधन हैं उन्हींका नाम धर्म है।' इस पर प्रतिप्रश्न उठाया जा सकता है कि फिर लौकिक अभ्युदयकी सिद्धिके साधन क्या है? जबकि धर्मकी परिभाषा में कहीं-कहीं लौकिक अभ्युदयके साधनोंको भी धर्म बताया गया है। मेरी दृष्टिमें लौकिक अभ्युदयका साधन धर्म नहीं है वह तो धर्मका आनुषंगिक फल है। क्योंकि लौकिक अभ्युदय उसीको माना गया है जो आत्मातिरिक्त सामग्रियोंका विकास व प्रापण होता है। गहराईसे सोचा जाय तो धर्मकी

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इसके लिये कोई स्वतन्त्र आवश्यकता है ही नहीं। जिस प्रकार गेहूंकी खेती करनेसे तूड़ी-भूसा आदि गेहूंके साथ-साथ अपने-आप पैदा हो जाती हैं उनके लिये अलग खेती करनेकी कोई आवश्यकता नहीं होती, इसी प्रकार धर्म तो आत्म-शुद्धिके लिये ही किया जाता है मगर गेहूंके साथ तूड़ीकी तरह लौकिक अभ्युदय उसके साथ-साथ अपने-आप फलने वाला है। उसके लिये स्वतन्त्र रूपसे धर्म करनेकी कोई आवश्यकता नहीं।

लौकिक धर्म और पारमार्थिक धर्म—

प्राचीन साहित्यमें धर्म शब्द अनेक अर्थोंमें प्रयुक्त हुआ है। उस समय धर्म शब्द अत्यन्त लोकप्रिय था। इसलिये जो कुछ अच्छा लगा उसीको धर्म शब्दसे सम्बोधित कर दिया जाता था। इसीलिये सामाजिक कर्तव्य और व्यवस्थाके नियमोंको भी ऋषि-महर्षियोंने धर्म कहकर पुकारा। जैन साहित्यमें स्वयं भगवान् महावीरने सामाजिक कर्तव्योंके दश प्रकारके निरूपण करते हुए उन्हें धर्म शब्दसे अभिहित किया है। उन्होंने बताया है कि जो ग्रामकी मर्यादाएँ व प्रथाएँ हैं उन्हें निभाना ग्राम-धर्म है। इसी प्रकार नगर-धर्म, राष्ट्र-धर्म आदिका विवेचन किया है। यद्यपि तत्त्वतः धर्म वही है जिसमें आत्मशुद्धि और आत्म-विकास हो। मगर तात्कालिक धर्मशब्दकी व्यापकताको देखते हुए सामाजिक रस्मों व रीति-रिवाजोंको भी लौकिक धर्म बताया गया है। लौकिक धर्म और पारमार्थिक धर्म सर्वथा पृथक्-पृथक् हैं। उनका मिश्रण करना दोनोंको ग़लत व कुरूप बनाना है। इनका प्रथक्त्व इस तरह समझा जा सकता है कि जहां लौकिक धर्म परिवर्तनशील है वहां पारमार्थिक धर्म सर्वदा सर्वत्र अपरिवर्तनशील व अटल है। आज जिसे हम राष्ट्रधर्म व समाजधर्म कहते हैं वे राष्ट्र एवं समाजकी परिवर्तित स्थितियोंके अनुसार कल परिवर्तित हो सकते हैं। स्वतन्त्र होनेके पूर्व भारतमें जो राष्ट्रधर्म माना जाता था। आज वह नहीं माना जाता। आज भारतका राष्ट्रधर्म बदल गया है मगर इस तरह पारमार्थिक धर्म कभी और कहीं नहीं बदलता। वह जो कल था वही आज है और जो आज है वही आगे रहेगा। गौर करिये—अहिंसा-सत्य-स्वरूपमय जो पारमार्थिक धर्म है वह कभी किसी भी स्थितिमें बदला क्या? इसी तरह लौकिक धर्म अलग-अलग राष्ट्रोंका अलग-अलग है जबकि पारमार्थिक धर्म सब राष्ट्रोंके लिये एक समान है। इन कारणोंसे यह कहना चाहिये कि लौकिक धर्म और पारमार्थिक धर्म दो हैं और भिन्न-भिन्न हैं। पारमार्थिक धर्मकी गति जब आत्म-विकासकी ओर है तब लौकिक धर्मका तांता संसारसे जुड़ा हुआ है।

राष्ट्र-निर्माणमें धर्म—

राष्ट्रनिर्माणमें धर्म कहां तक सहायक हो सकता है और इसके लिये धर्म कुछ सूत्रोंका प्रतिपादन करता है। वे हैं आत्म स्वतन्त्रता, आत्म-विजय, अदीन भाव, आत्मविकास और आत्म-नियन्त्रण। इन सूत्रोंका जितना विकास होगा उतना ही राष्ट्र स्वस्थ, उन्नत और विकसित बनेगा। इन सूत्रोंका विकास धर्मके परे नहीं है और न धर्मके अभावमें इन सूत्रोंका सूत्रपात व उन्नयन ही किया जा सकता है। आज जब राष्ट्रमें धर्मके निरवत भौतिकवादका वातावरण फैला हुआ है तब राष्ट्रमें दुर्गुणों व अवनतिका विकास हो ही हो, तो इसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं। यही कारण है जहां पदके लिये मनुहारें होतीं थीं फिर भी कहा जाता था कि मुझे पद नहीं चाहिये, मैं इसके योग्य नहीं हूं, तुम्हीं संभालो—वहां आज कहा जाता है कि पदका हक मेरा है, तुम्हारा नहीं। पदके योग्य मैं हूं, तुम नहीं। पद पानेके लिये सब अपने-अपने अधिकारोंका वर्णन करते हैं मगर यह कोई नहीं कहता कि पदके योग्य या अधिकारी दूसरा अमुक है। यह पद लोलुपताका रोग धर्मको न अपनाने और भौतिकवादको जीवनमें स्थान देनेका ही दुष्परिणाम है। एक वह समय था कि जब पदकी लालसा रखनेवालोंको निंद्य, अयोग्य और अनधिकारी समझा जाता था और पद न चाहनेवालोंको प्रशंस्य, योग्य और अधिकारी। सुभटोंका किस्सा इसी तथ्यपर प्रकाश डालता है। "एक बार किसी देशमें ५०० सुभट आये। मन्त्रीने परीक्षा करनेके लिए रात्रि समय सबको एक विशाल हॉल सौंपा और कहा कि तुममेंसे जो बड़ा हो वह हॉलके बीचमें बिछे पलंग पर सोये तथा अन्य सब नीचे जमीनपर सोयें। सोनेका समय आने पर उनमें बड़ा संघर्ष मचा। पलंग पर सोनेके लिये वे अपने-अपने हक, योग्यता और अधिकारोंकी दुहाइयां देने लगे। सारी रात बीत गई किन्तु वे एक मिनट भी न सो पाये। सारी रात कुत्तोंकी तरह आपसमें लड़ते-झगड़ते रहे। प्रातःकाल मंत्रीने उनका किस्सा सुनकर उन्हें उसी समय वहांसे निकाल दिया। दूसरे दिन दूसरे ५०० सुभट आये। मंत्रीने उनके लिये भी वही व्यवस्था की। उनके सामने समस्या यह थी

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कि पलंग पर कौन सोये। सबमें परस्पर मनुहारें होने लगी। कोई कहता था—मैं इस बड़प्पनके योग्य नहीं। कोई कहता था—मैं अधिक अनुभवी नहीं। कोई कहता था—मुझमें विद्या बुद्धि कम है। आखिर किसीने पलंग पर सोना स्वीकार नहीं किया। वे बड़े समझदार थे—उसने विचार किया नींद क्यों नष्ट की जाय? सबको पलंगकी ओर सिर करके सो जाना चाहिए। सबने रात भर खूब आनन्दसे नींद ली। प्रात-काल मंत्रीने सारा किस्सा सुनकर उनको बड़े सत्कारके साथ बड़े-बड़े पद सौंपकर सम्मान किया।" जबतक यह स्थिति न हो यानी पदके प्रति आकर्षण कम न हो तब तक राष्ट्र-निर्माण कैसे हो सकता है। देहली प्रवासमें मेरी पं० नेहरूजीसे जब-जब मुलाकात हुई तो मैंने प्रसंगवश कहा—"पंडितजी! लोगोंमें कुर्सीकी इतनी छीनाझपटी क्यों हो रही है?" उन्होंने खेद भरे शब्दोंमें कहा—"महाराज! हम इससे बड़े परेशान हैं परन्तु करें क्या?" जिस राष्ट्रमें यह अहंमन्यता, पदलोलुपता और अधिकारोंकी भावनाका बोलबाला है वह राष्ट्र ऊंचे उठनेके स्वप्न कैसे देख सकता है? वह तो दिन प्रतिदिन दुःखित, पीड़ित और अवनत होता जायगा। महाभारत में लिखा है—

बहवो यत्र नेतारः सर्वे पंडितमानिनः।
सर्वे महत्वमिच्छन्ति, तद्राष्ट्रमवसीदति॥

जिस राष्ट्रमें सब व्यक्ति नेता बन बैठते हैं, सबके सब अपने आपको पंडित मानते हैं और सब बड़े बनना चाहते वह राष्ट्र जरूर दुःखी रहेगा। भारतकी स्थिति करीब-करीब ऐसी हो रही है इसलिए राष्ट्रकी बुराइयोंको मिटानेके लिए सत्य-निष्ठा और प्रामाणिकताकी अत्यन्त आवश्यकता है जबतक सत्य-निष्ठा और प्रामाणिकता जीवनका मूलमंत्र नहीं बन जाती तबतक मानवताका सूत्र पहचाना जाय यह कभी भी संभव नहीं और राष्ट्रका निर्माण हो जाय यह भी कभी नहीं हो सकता।

उपसंहार—

अन्तमें मैं यही कहूँगा कि लोग धर्मके नामसे चिढ़ें नहीं। धर्म कल्याणका एकमात्र साधन है। उसके नामपर फैली हुई बुराइयोंको मिटाना आवश्यक है न कि धर्मको। मैं चाहता हूँ कि धर्म और राष्ट्रके वास्तविक स्वरूप और पृथकत्वको समझकर धर्मके मुख्य अंग-अहिंसा, सत्य और सन्तोषकी भित्तिपर राष्ट्रके निर्माणके महान् कार्यको सम्पन्न किया जाय। मैं समझता हूँ कि यदि ऐसा हुआ तो राष्ट्र ऊँचा, सुखी, सम्पन्न व विकसित होगा। वहाँ धर्मका भी वास्तविक रूप निखरेगा तथा उससे जन-जनको एक नई प्रेरणा भी प्राप्त हो सकेगी। (जैन भारतीसे)

'अनेकान्त' की पुरानी फाइलें

'अनेकान्त' की कुछ पुरानी फाइलें वर्ष ४ से ११ वें वर्षतक की अवशिष्ट हैं जिनमें समाजके लब्ध प्रतिष्ठ विद्वानों द्वारा इतिहास, पुरातत्त्व, दर्शन और साहित्यके सम्बन्धमें खोजपूर्ण लेख लिखे गये हैं और अनेक नई खोजों द्वारा ऐतिहासिक गुत्थियोंको सुलझानेका प्रयत्न किया गया है। लेखोंकी भाषा संयत सम्बद्ध और सरल है। लेख पठनीय एवं संग्रहणीय हैं। फाइलें थोड़ी ही रह गई हैं। अतः मंगाने में शीघ्रता करें। फाइलों को लागत मूल्य पर दिया जायेगा। पोस्टेज खर्च अलग होगा।

मैनेजर—'अनेकान्त'

वीरसेवामन्दिर, १ दरियागंज, दिल्ली।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

बंकापुर

(विद्याभूषण पं० के० भुजबली शास्त्री, मूडबिद्री)

बंकापुर पूना-बगलूर रेलवे लाइनमें, हरिहर रेलवे स्टेशनके समीपवर्ती हावेरि रेलवे स्टेशनसे १५ मील पर, धारवाड जिलेमें है । यह-वह पवित्र स्थान है, जहां पर प्रातः स्मरणीय आचार्य गुणभद्रने सं० ८२० में अपने गुरु भगवज्जिनसेनके विश्रुत महापुराणांतर्गत उत्तर पुराणको समाप्त* किया था+ । आचार्य जिनसेन और गुणभद्र जैन संसारके ख्याति प्राप्त महाकवियोंमें से हैं । इस बातको साहित्य-संसार अच्छी तरह जानता हैं । संस्कृत साहित्यमें महापुराण वस्तुतः एक अनूठा रत्न है । इसका विशेष परिचय और किसी लेखमें दिया जायगा । उत्तरपुराणके समाप्ति-कालमें बंकापुर-से जैन वीरबंकेयका सुयोग्य पुत्र लोकादित्य विजय नगरके यशस्वी एवं प्रतापी शासक अकालवर्ष या कृष्णराज (द्वितीय) के सामंतके रुपमें राज्य करता था । लोकादित्य महाशूर तेजस्वी और शत्रु-विजयी था । इसके ध्वजमें मयूरका चिन्ह अङ्कित था‡ । और यह चेल्लध्वजका अनुज और चेल्लकेत (बंकेय) का पुत्र था । उस समय समूचा वनवास (वनवासि) प्रदेश लोकादित्यके ही वशमें रहा । उत्तरपुराणकी प्रशस्ति देखें ।

उपर्युक्त बंकापुर श्रद्धेय पिता वीर बंकेयके नाम से लोकादित्यके द्वारा स्थापित किया गया था । और उस जमानेमें इसे एक समृद्धिशाली जैन राजधानी होनेका सौभाग्य प्राप्त था । बंकेय भी सामान्य व्यक्ति नहीं था । राष्ट्र-कूट नरेश नृपतुङ्गके लिये राज्य कार्यों-में जैन वीर बंकेय ही पथ प्रदर्शक था । मुकुलका पुत्र एरकोरि, एरकोरिका पुत्र घोर और घोरका पुत्र बंकेय था । बंकेयका पुत्रपितामह मुकुल शुभतुङ्ग कृष्णराज-का पितामह एरकोरि शुभतुङ्गके पुत्र ध्रुवदेवका एवं पिता घोर चक्री गोविन्दराजका राजकार्य सारथि था । इससे सिद्ध होता है कि लोकादित्य और बंकेय ही नहीं; इनके पितामहादि भी राज्य-कार्य पटु तथा महा-शूर थे ।

अस्तु, नृपतुङ्गको बंकेय पर अटूट श्रद्धा थी । यही कारण है कि एक लेखमें नृपतुङ्गने बंकेयके सम्बन्धमें "विततज्योतिर्निशितासिरि वा परः" यों कहा है । पहले बंकेय नृपतुङ्गके आप्त सेनानायकके रूपमें अनेक युद्धोंमें विजय प्राप्तकर नरेशके पूर्ण कृपापात्र बननेके फल-स्वरूप बादमें वह विशाल वनवास या वनवासिप्रांतका सामन्त बना दिया गया था । सामन्त बंकेयने ही गंगराज राजमल्लको एक युद्धमें हराकर बन्दी बना लिया था । बल्कि इस विजयोपलक्ष्यमें भरी सभामें वीर बंकेयका नृपतुङ्गके द्वारा जब कोई अभीष्ट वर मांगनेकी आज्ञा हुई तब जिनभक्त बंकेयने सगद्गद महाराज नृपतुंगने यह प्रार्थना की कि 'महाराज, अब मेरी कोई लौकिक कामना बाकी नहीं रही । अगर आपको कुछ देना ही अभीष्ट हो तो कोलनूरमें मेरे द्वारा निर्माणित पवित्र जिनमंदिरके लिये सुचारु रूपसे पूजादिकार्य संचालनार्थ एक भूदान प्रदान कर सकते हैं···। बस, ऐसे ही किया गया । यह उल्लेख एक विशाल प्रस्तर खण्डमें शासनके रूपमें आज भी उपलब्ध होता है । बंकेयके असीम धर्म-प्रेम-के लिये यह एक उदाहरण ही पर्याप्त है । इस प्रसंग-में यह उल्लेख कर देना भी आवश्यक है कि वीर

---

*शक संवत् ८२० आचार्य गुणभद्रके उत्तर पुराणका समाप्ति काल नहीं है किन्तु वह उनके शिष्य मुनि लोकसेन-की प्रशस्तिका पद्य है जिसमें उसकी पूजाके समयका उल्लेख किया गया है । —परमानन्द जैन

+ उत्तर पुराणकी प्रशस्ति देखें ।

‡उत्तर पुराणकी प्रशस्तिमें दिया हुआ "चेल्लपताके" वाक्यमें चेल्ल शब्दका अर्थ अमरकोष और विश्वलोचन कोषमें चील (पक्षी विशेष) पाया जाता है । अतः लोकादित्यकी ध्वजामें चीलका चिन्ह था न कि मोरका ।

—परमानन्द जैन

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

बंकेयकी धर्मपत्नी विजया बड़ी विदुषी रही। इसने संस्कृतमें एक काव्य रचा है। इस काव्यका एक पद्य श्रीमान् वेंकटेश भीमराव आलूर, बी० ए०, एल० एल० बी० ने 'कर्नाटकगतवैभव' नामक अपनी सुन्दर रचना में उदाहरणके रूपमें उद्धृत किया है ❀।

बंकेयके सुयोग्य पुत्र लोकादित्यमें भी पूज्य पिता-के समान धर्म-प्रेमका होना सर्वथा स्वाभाविक ही है। साथ ही साथ लोकादित्य पर 'उत्तर पुराण' के रचयिता श्री गुणभद्राचार्यका प्रभाव भी पर्याप्त था। इसमें संदेह नहीं है कि धर्मधुरीण लोकादित्यके कारण बंकापुर उस समय जैनधर्मका प्रमुख केन्द्र बन गया था। यद्यपि लोकादित्य राष्ट्रकूट राजाओंका सामंत था। फिर भी राष्ट्रकूट शासकोंके शासन कालमें यह एक वैशिष्ट्य था कि उनके सभी सामंत स्वतन्त्र रहे। आचार्य गुणभद्रजीके शब्दोंमें लोकादित्य शत्रुरूपी अन्धकारको मिटाने वाला एक ख्याति प्राप्त प्रतापी शासक ही नहीं था, साथ ही साथ श्रीमान् भी। उस जमानेमें बंकापुरमें कई जिन मन्दिर थे। इन मंदिरोंको चालुक्यादि शासकोंसे दान भी मिला था। बंकापुर एक प्रमुख केन्द्र होनेसे यहाँ पर जैनाचार्योंका वास अधिक रहता था। यही कारण है कि इसकी गणना एक पवित्र क्षेत्रके रूपमें होती थी। इसीलिये ही गंग-नरेश नारसिंह जैसा प्रतापी शासकने यहीं आकर प्रातः स्मरणीय जैन गुरुओंके पादमूलमें सल्लेखनाव्रत संपन्न किया था। दंडाधिप हुल्लने यहाँ पर कैलास जैसा उत्तुंग एक जिन मन्दिर निर्माण कराया था। इतना ही नहीं, प्राचीन कालमें यहाँ पर एक दो नहीं, पाँच महा-विद्यालय मौजूद थे ×। ये सब बीती हुई बातें हुईं। वर्तमान कालमें बंकापुरकी स्थिति कैसी है, इसे भी विज्ञ पाठक एक बार अवश्य सुन लें। सरकारी रास्तेके बगलमें उन्नत एवं विशाल मैदानमें एक ध्वंसावशिष्ट पुराना किला है। इस किलेके अंदर १२ एकड़ जमीन है। यह किला बम्बई सरकारके वशमें है। यहाँ पर इस समय सरकारने एक डेरी फार्म खोल रखा है। जहाँ-तहाँ खेती भी होती है। राजमहलका स्थान ऊँचा है और इसके चारों ओर विशाल मैदान है। यह मैदान इन दिनोंमें खेतोंके रूपमें दृष्टिगोचर होता है। इन विशाल खेतोंमें आजकल ज्वार, बाजरा, ऊख, गेहूँ, चावल, उड़द, मूँग, चना, तुवर, कपास और मूँग-फली आदि पैदा होते हैं। स्थान बड़ा सुन्दर सुयोग्य अपनी समृद्धिके जमानेमें वह स्थान वस्तुतः देखने ही लायक रहा होगा। मुझे तो बड़ी देर तक यहाँसे हट-नेकी इच्छा ही नहीं हुई। किलेके अन्दर इस समय एक सुन्दर जिनालय अवशिष्ट है। यहाँ वाले इसे 'अरवत्तमूरूकबंगल बस्ति' कहते हैं। इसका हिन्दी अर्थ ६३ खम्भोंका जैन मन्दिर होता है। मेरा अनुभव है कि यह मन्दिर जैनोंका प्रसिद्ध शान्तिनाथ मन्दिर और इसके ६३ खंभ जैनोंके त्रिषष्ठिशलाका पुरुषोंका स्मृति-चिन्ह होना चाहिये।

मन्दिर बड़ा सुन्दर है। मन्दिर वस्तुतः सर्वोच्च कलाका एक प्रतीक है। खंभोंका पालिश इतना सुन्दर है कि इतने दिनोंके बाद, आज भी उनमें आसानीसे मुख देख सकते हैं। मन्दिर चार खण्डोंमें विभक्त है। गर्भ गृह विशेष बड़ा नहीं है। इसके सामनेका खण्ड गर्भगृहसे बड़ा है। तीसरा खण्ड दूसरेसे बड़ा है। अंतिम वा चतुर्थ खण्ड सबसे बड़ा है। यह इतना विशाल है कि इसमें कई सौ आदमी आरामसे बैठ सकते हैं। छत और दीवालों परकी सुन्दर कलापूर्ण मूर्तियां निर्दयी विध्वंसकोंके द्वारा नष्ट की गई हैं। इस मन्दिरको देख कर उस समयकी कला, आर्थिक स्थिति और धार्मिक श्रद्धा आदिको आज भी विवेकी परख सकता है। खेद है कि बंकापुर आदि स्थानोंके इन प्राचीन महत्वपूर्ण जैन स्मारकोंका उद्धार तो दूर रहा। जैन समाज इन स्थानोंको जानती भी नहीं है।

❀ "सरस्वतीव कर्णाटी विजयांका जयत्यसौ।
या वैदर्भगिरां वासः कालीदासादनन्तरम्॥"

× 'बम्बई प्रान्तके प्राचीन जैन स्मारक देखें'।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

मूलाचार संग्रह ग्रन्थ न होकर आचारांगके रूपमें मौलिक ग्रन्थ है

(पं० परमानन्द जैन शास्त्री)

सन् १९३८ में मैंने 'मूलाचार संग्रह ग्रन्थ है' इस शीर्षकसे एक लेख लिखा था। उस समय मूलाचारकी कुछ गाथाओंके श्वेताम्बरीय आवश्यकनियुक्ति आदि ग्रन्थोंमें उपलब्ध होनेसे मैंने यह समझ लिया था कि ये गाथाएँ मूलाचारके कर्ताने वहांसे ली हैं और उनके सम्बन्धमें विशेष विचारका अवसर न पाकर उक्त लेखमें उसे एक 'संग्रहग्रन्थ' बतला दिया था। साथ ही, उसके बारहवें पर्याप्ति नामक अधिकारको असम्बद्ध भी लिख दिया था। उस लेखके प्रकाशित होनेके बादसे मेरा अध्ययन उस विषय पर बराबर चलता रहा। दूसरे प्राचीन दिगम्बर ग्रंथोंको भी देखनेका अवसर प्राप्त हुआ जो उस समय मुझे उपलब्ध न थे। तुलनात्मक अध्ययन करते हुए मैंने मूलाचार और उसकी टीका 'आचारवृत्ति' का गहरा मनन किया और अधिक वाचन चिन्तनके फलस्वरूप मेरा वह अभिमत स्थिर नहीं रहा, अब मेरा यह दृढ़ निश्चय हो गया है कि मूलाचार संग्रह ग्रन्थ न होकर एक व्यवस्थित प्राचीन मौलिक ग्रन्थ है। इस लेख द्वारा अपने इन्हीं विचारों को स्पष्ट करने का प्रयत्न कर रहा हूँ।

यह ग्रंथ दिगम्बर जैन परंपराका एक मौलिक आचार ग्रन्थ है, उसकी गहरी विचार-धारा और विषयका विवेचन बड़ा ही समृद्ध और प्राचीनताका उन्नायक है। इतना ही नहीं; किन्तु भगवान महावीरकी वह उस मूल परम्पराका सबसे पुरातन आचार विषयका ग्रन्थ है जिसका भगवान महावीर द्वारा कथित और गणधर इन्द्रभूति द्वारा ग्रथित द्वादशांगश्रुतके आचारांग नामक सूत्र ग्रन्थसे सीधा संबंध जान पड़ता है। इस ग्रन्थकी रचना उस समय हुई है जब द्वादश वर्षीय दुर्भिक्षके कारण भगवान महावीर द्वारा निर्दिष्ट आचार मार्गमें विचार-शैथिल्यका समावेश प्रारम्भ होने लगा था। कुछ साधुजन अपने आचार-विचारमें शिथिलताको अपनानेका उपक्रम करने लगे थे और अचेलकताके खिलाफ वस्त्र धारण करने लगे थे। परन्तु उस समय तक अचेलकताके नग्नता अर्थमें कोई विकृति नहीं आई थी, जिसका अर्थ बादको बिगाड़कर 'अल्पचेल' किया जाने लगा। उस समय मूल परम्परागत आचारको सुरक्षित रखने के लिए उक्त मूल आचारके प्रवर्तक बहुश्रुत दिगम्बराचार्यने मूल आचारांग सूत्रका १२ अधिकारोंमें संक्षिप्त रूपसे सार खींचकर इस ग्रन्थकी रचना की है।

आचार्य वसुनन्दी सैद्धान्तिकने इस ग्रन्थ पर लिखी अपनी 'आचारवृत्ति' की उत्थानिकामें स्पष्ट लिखा है कि अठारह हजार पद प्रमाण आचारांगसूत्रको मूलगुणाधिकारसे लेकर पर्याप्ति अधिकार पर्यन्त १२ अधिकारोंमें उपसंहार किया है—

"श्रुतस्कन्धाधारभूतमष्टादशपदसहस्रपरिमाणं, मूलगुण - प्रत्याख्यान - संस्तर-स्तवाराधना-समयाचार-पंचाचार-पिंडशुद्धि - षडावश्यक-द्वादशानुप्रेक्षानागारभावना-समयसार-शीलगुण प्रस्तार-पर्याप्त्यधिकार निबद्धमहार्थगभीरं लक्षणसिद्धपदवाक्यवर्णोपचितं, घातिकर्मक्षयोत्पन्नकेवलज्ञानप्रबुद्धाशेषगुणपर्यायखचितषड्द्रव्य-नवपदार्थजिनवरोपदिष्टं, द्वादशविधतपोनुष्ठानोत्पन्नानेकप्रकारर्द्धिसमन्वितगणधरदेवरचितं, मूलगुणोत्तर गुणस्वरूपविकल्पोपायसाधनसहायफलनिरूपणप्रवणमाचाराङ्गमाचार्यपारम्पर्यप्रवर्तमानमल्पबलमेधायुःशिष्यनिमित्तं द्वादशाधिकारैरुपसंहर्तुकामः स्वस्य श्रोतृणां च प्रारब्धकार्यप्रत्यूहनिराकरणक्षमं शुभपरिणामं विदधच्छ्रीवट्टकेराचार्यः प्रथमतरं तावन्मूलगुणाधिकार-प्रतिपादनार्थं मंगलपूर्विकां प्रतिज्ञां विधत्ते—"

ग्रन्थको बनाते समय आचार्य प्रवरने इस बातका खास तौरसे ध्यान रक्खा मालूम होता है कि इस ग्रन्थमें आचारांगसूत्र-विषयक मूलपरम्पराका कोई भी अंश छूटने न पावे। चुनांचे हम देखते हैं कि ग्रन्थकर्ताने प्रत्येक अधिकारमें मंगलाचरण कर उसके कहनेकी प्रतिज्ञा की है और अन्तमें उसका प्रायः उपसंहार भी किया है।

जैसा कि मूलाचारके 'सामाचार नामक अधिकार' अधिकारकी आदि अन्तिम गाथासे स्पष्ट है:—

तेल्लोक पूयणीए अरहंते वंदिऊण तिविहेण।
वोच्छं समाचारं समासदो आणुपुव्वीयं ॥१२२॥

× ×

एवं सामाचारो बहुभेदो वण्णिदो समासेण।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वित्थारसमावण्णो वित्थरिदव्वो बुहजणेहिं ॥१६७॥

इस प्रकरणमें उक्त अन्तिम गाथासे पूर्व निम्न गाथा और भी दी हुई है जिसमें विषयका उपसंहार करते हुए बतलाया गया है कि जो साधु और आर्यिका ग्रन्थमें उल्लिखित आचारमार्गका अनुष्ठान करते हैं वे जगत्पूज्य, कीर्ति और सुखको प्राप्त कर सिद्धिको प्राप्त करते हैं—

एवं विधाणचरियं चरितं जे साधवो य अज्जाओ।
ते जगपुज्जं किर्त्तिं सुहं लद्धूण सिज्झंति ॥१६ ॥

इसी तरह 'पिण्डविशुद्धि' अधिकारमें पिण्ड विशुद्धिका कथन करते हुए जिन साधुओंने उसकालमें क्रोध, मान, माया और लोभ रूप चार प्रकारके उत्पादन दोषसे दूषित भिक्षा ग्रहणकी है उनका उल्लेख भी बतौर उदाहरणके निम्न गाथामें अङ्कित किया है—

कोधो य हत्थिकप्पे माणो वेणायडम्मि णयरम्मि।
माया वाणारसिए लोहोपुण रासियाणम्मि ॥४५५

इस अधिकार में बतलाया गया है कि जो साधु भिक्षा अथवा चर्यामें प्रवृत्ति करता है वह मनोगुप्ति, वचनगुप्ति कायगुप्ति के संरक्षणके साथ मूलगुण और शीलसंयमादिककी रक्षा करता है तथा संसार, शरीर और संग (परिग्रह) निर्वेदभाव देखता हुआ वीतरागकी आज्ञा और उनके शासनकी रक्षा करता है। अनवस्था (स्वेच्छा प्रवृत्ति) मिथ्यात्वाराधना और संयम विराधना रूप चर्याका परिहार करता है

भिक्खा चरियाए पुण गुत्तीगुणसील संजमादीणं।
रक्खंतो चरदि मुणी णिव्वेदतिगं च पेच्छंतो ॥७४॥
आणा अणवत्थाविय मिच्छत्ताराहणादणासो य।
संजम विराधणावि य चरियाए परिहरेदव्वा ॥७५॥

पिण्ड शब्दका अर्थ है आहार (भोज्य योग्य वस्तुओंका समूह रूप ग्रास) या पिण्ड। जो साधुओंको पाणिपात्रमें दिया जाता था और आज भी दिया जाता है। इस अधिकारमें चर्या सम्बन्धि विशुद्धिका विशदवर्णन किया गया है।

मूलाचारमें एषणा समितिके स्वरूप कथनमें एषणाको केवल आहारके लिए प्रयुक्त किया गया है और बतलाया गया है कि जो साधु उद्गम, उत्पादन और एषणादि रूप दोषोंसे शुद्ध, कारण सहित नवकोटिसे विशुद्ध, शीतउष्णादि भक्ष्य पदार्थोंमें राग द्वेषादि रहित सम भुक्ति ऐसी परिशुद्ध अत्यन्त निर्मल एषणा समिति है। यह इस एषणा समितिका प्राचीन मूल रूप है, जो बादमें विकृतिको प्राप्त हुआ है। चुनांचे श्वेताम्बरीय आचारांगमें यहाँ तक विकार आगया है कि वहाँ पिण्ड एषणाके साथ पात्र एषणा और वस्त्र एषणाको और भी जोड़ा गया है। जिससे यह साफ ध्वनित होता है कि 'मूलआचार' में द्वादश वर्षीय दुर्भिक्षके कई शताब्दी बाद वस्त्र एषणा और पात्र एषणाकी कल्पना कर उन्हें एषणा समितिके स्वरूपमें जोड़ दिया है। इससे साफ ध्वनित होता है कि मूल आचारांगकी रचना इन सब कल्पनाओंसे पूर्व की है। अन्यथा कल्पनाओंके रूढ़ होने पर उनका विरोध अवश्य किया जाता।

षडावश्यक अधिकारमें कायोत्सर्गका स्वरूप बतलाते हुए कथन किया है कि जो साधुमोक्षार्थी हैं, जागरणशील है निद्राको जीतने वाला है, सूत्रार्थ विशारद है, करण शुद्ध है, आत्मबल वीर्यसे युक्त है उसे विशुद्धात्मा कायोत्सर्गी जानना चाहिए।

मुक्खट्ठी जिदणिद्दो सुत्तत्थ विसारदो करणसुद्धो।
आद-बल-विरिय-जुत्तो काउस्सग्गो विसुद्धप्पा ॥६५६॥

यहाँ यह बात खास तौरसे ध्यान देने योग्य है और वह यह कि मूलाचारके कर्ताने षडावश्यक अधिकारकी चूलिकाका उपसंहार करते हुए यह स्पष्ट रूपसे उल्लेख किया है कि मैंने यह नियुक्तिकी नियुक्ति संक्षेपसे कही है इसका विस्तार अनुयोगसे जानना चाहिए।

णिज्जुत्ती णिजुत्ती एसा कहिदा मए समासेण।
अह वित्थारपसंगोऽणियोगदो होदिणादव्वो ॥६६४

समस्त जैनवाङ्मय चार अनुयोगोंमें विभक्त है, प्रथमानुयोग, चरणानुयोग, करणानुयोग द्रव्यानुयोग। इन चार अनुयोगोंमेंसे आचार विषयक विस्तृत कथन चरणानुयोगमें समाविष्ट है। यहाँ ग्रन्थकर्ता आचार्यका अभिप्राय 'अनुयोग' से चरणानुयोगका है इसीलिए उसके देखनेकी प्रेरणा की गई है।

मूलाचारके कर्ताने जिन नियुक्तियों परसे सार लेकर षडावश्यक नियुक्तिका निर्माण किया है। वे नियुक्तियाँ वर्तमानमें अनुपलब्ध हैं * और वे इस ग्रन्थ रचनासे पूर्व बनी हुई थीं, जिन्हें ग्रन्थकर्ताके गमकगुरु भद्रबाहु-श्रुतकेवलीने बनाया था। उन्हींका संक्षिप्त प्रसार मूलाचार-

* 'अहऽन्नया कालपरिहाणि दोसेणं ताओ णिज्जुत्तिभास-चुन्नीओ वुच्छिन्नाओ।
— महानिशीथ सूत्र अध्याय ५

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

के इस षडावश्यक अधिकारमें पाया जाता है। अतः कुछ गाथाएँ उपलब्ध श्वेताम्बरीय निर्युक्तियोंमें पाये जानेके कारण संग्रह ग्रंथ होने की जो कल्पना की थी वह ठीक नहीं है; क्योंकि वे निर्युक्तियाँ विक्रमकी छठी शताब्दीसे पूर्वकी बनी हुई नहीं जान पड़ती+ हैं। और मूलाचार उनसे कई सौ वर्ष पूर्वका बना हुआ है; क्योंकि उसका समुल्लेख विक्रमकी पांचवी शताब्दीके आचार्य-यतिवृषभने अपनी 'तिलोयपण्णत्ती' के आठवें अधिकार-की ५३२वीं गाथामें 'मूलायारे' वाक्यके साथ किया है जिससे मूलाचारकी प्राचीनता पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। उसके बाद आचार्यकल्प पण्डित आशाधरजीने अपनी 'अनगारधर्मामृत टीका' (वि० सं० १३००) में 'उक्तं च मूलाचारे' वाक्यके साथ उसकी निम्नगाथा उद्धृत की है जो मूलाचार में ५१६ नं० पर उपलब्ध होती है।

सम्मत्तणाण संजम तवेहि जं तं पसत्थ समगमणं।
समयंतु तं तु भणिदं तमेव सामाइयं जाणे ॥

—अनगारधर्मामृत टी० पृ० ६०५

इनके सिवाय, आचार्य वीरसेनने अपनी धवला टीका में 'तह आयारंगे वि वुत्तं' वाक्यके साथ 'पंचत्थिकाया' नाम की जो गाथा समुद्धृत की है वह उक्त आचारांगमें ४०० नं० पर पाई जाती है। वर्तमानमें उपलब्ध श्वेता-म्बरीय आचारांग में नहीं है। इससे स्पष्ट है कि इस ग्रन्थ-की प्रसिद्धि पुरातन कालसे मूलाचार और आचारांग दोनों नामोंसे रही है।

आचार्य वीरनन्दीने जो मेघचन्द्र त्रैविद्यदेवके शिष्य एवं पुत्र थे, और जिनका स्वर्गवास शक संवत् १०३७ (वि० सं० ११७२) में हुआ था। अतः यही समय (विक्रमकी १२वीं शताब्दी) आचार्य वीरनन्दीका है। आचार्य वीरनन्दीने अपने आचारसारमें मूलाचारकी गाथाओंका प्रायः अर्थशः अनुवाद किया है ×। आचार्य वसुनन्दीने उक्त मूलाचार पर 'आचारवृत्ति' नामकी टीका लिखी है जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। विक्रमकी १५ वीं शताब्दी के प्रसिद्ध भट्टारक सकलकीर्तिने अपने मूलाचार प्रदीप' नामक ग्रन्थमें भी मूलाचारकी गाथाओंका सार दिया है। इन सब उल्लेखोंसे दिगम्बर समाजमें मूलाचारके प्रचारके साथ उसकी प्राची-नताका इतिवृत्त पाया जाता है, जो इस बातका द्योतक है कि यह मूलग्रन्थ दिगम्बर परम्पराका मौलिक आचारांग सूत्र है, संग्रह ग्रन्थ नहीं है।

अतः श्वे० निर्युक्तियों परसे 'मूलाचार' में कुछ गाथाओंके संग्रह किये जानेकी जो कल्पना की गई थी, वह समुचित प्रतीत नहीं होती; क्योंकि वीर शासनकी जो श्रुत-सम्पत्ति दिगम्बर-श्वेताम्बर सम्प्रदायोंमें परम्परासे दुर्भिक्षादि मतभेदके कारण बटी, वह पूर्व परम्परासे दोनों-के पास बराबर चली आ रही थी। भद्रबाहु श्रुतकेवली तक दिगम्बर श्वेताम्बर जैसे भेदोंकी कोई सृष्टि नहीं हुई थी, उस समय तक भगवान महावीरका शासन यथाजात मुद्रारूपमें ही चल रहा था। उनके द्वारा रची गई निर्युक्तियाँ उस समय साधु सम्प्रदायमें प्रचलित थीं, खास कर उनके शिष्य-प्रशिष्योंमें उनका पठन-पाठन बराबर चल रहा था। ऐसी हालतमें मूलाचारमें कुछ गाथाओंकी समानता परसे आदान-प्रदानकी कल्पना करना संगत नहीं जान पड़ती।

मूलाचारके कर्त्ताने 'अनगार भावना' नामके अधि-कारका प्रारम्भ करते हुए मंगलाचरणमें त्रिभुवन जयश्री तथा मंगलसंयुक्त अर्थात् सर्वकर्मके जलानेमें समर्थ पुण्यसे युक्त, कंचन, पियंगु, विद्रुम, घण, कुन्द और मृणालरूप वर्णविशेष वाले जिनवरोंको नमस्कार कर नागेन्द्र, नरेन्द्र और इन्द्रसे पूजित अनगार महर्षियोंके विविध शास्त्रोंके सार-भूत महंत गुणवाले 'भावना' सूत्रको कहनेका उपक्रम किया है। यथा—

वंदित्तु जिणवराणं तिहुयण जय मंगलो व वेदाणं।
कंचण-पियंगु-विद्रम-घण-कुंद-मुणाल लवण्णाणं ॥
अणयार महरिसिणं णाइंद णरिंदं इंद महिदाणं।
वोच्छामि विवहसारं भावणसुत्तं गुणमहंतं ॥

इस अधिकारमें लिंगशुद्धि, व्रतशुद्धि, वसतिशुद्धि भिक्षा-शुद्धि, ज्ञानशुद्धि, उज्झनशुद्धि—शरीरादिकसे ममत्वका त्याग—स्त्रीकथादिरहित वाक्यशुद्धि, तपशुद्धि—पूर्वकर्म रूप मलके शोधनमें समर्थ अनुष्ठान—ध्यान शुद्धि—एकाग्र चिन्तानिरोधरूपप्रवृत्ति—इन दश अधिकारोंका सुन्दर

+ देखो, अनेकान्त वर्ष ३ कि० १२ में प्रकाशित 'भद्र-बाहुस्वामी' नामका लेख।

× देखो, 'वीरननन्दी और उनका आचारसार' नामका मेरा लेख, जैन सि० भास्कर भा० ६ किरण १

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

एवं मौलिक विवेचन किया गया है। जिससे इस ग्रंथमें उस समयके मुनियोंके मूल आचारका ही पता नहीं चलता, किन्तु उस समयके साधुओंकी चर्याका भी पुरातन रूप सामने आ जाता है, जिसमें बतलाया गया है कि वे साधु नवकोटिसे शुद्ध, शंकादि दश दोष रहित, नख रोमादि चौदह दोषोंसे विशुद्ध आहार दूसरोंके द्वारा दिया हुआ परघरमें पाणि-पात्रमें लेते थे। और औद्देशिक, क्रीत—खरीदा हुआ—अज्ञात, शंकित अभिघट और सूत्र-प्रतिकूल अशुद्ध आहार ग्रहण नहीं करते थे। वे साधुचर्या को जाते समय इस बातका तनिक भी विचार नहीं करते थे कि ये दरिद्र कुल है यह श्रीमंत है और यह समान है। वे तो मौनपूर्वक घरोंमें घूमते थे। और शीतल, उष्ण, शुष्क रूक्ष, स्निग्ध, शुद्ध, लोणिद, अलोणित आहारको अनास्वादभावसे ग्रहण करते थे। वे साधु अक्षम्रक्षणके समान प्राण धारण और धर्मके निमित्त थोड़ासा आहार लेते थे। यदि कारणवश विधिके अनुसार आहार नहीं मिलता था, तो भी मुनि खेदित नहीं होते थे, किन्तु सुख दुखमें मध्यस्थ और अनाकुल रहते थे। वे दीन वृत्तिके धारक नहीं थे, किन्तु वे नरसिंह सिंहकी तरह गिरि-गुह कन्दराओंमें निर्भय होकर वास करते थे। यथाजातमुद्राके धारक थे, अर्थात् दिगम्बर रहते थे। और ध्यान अध्ययनके साथ अंग पूर्वादिका पाठ करते थे। वस्तुतत्त्वके अवधारणमें समर्थ थे। जिस तरह गिरिराज सुमेरु कल्पान्त कालकी वायुसे भी नहीं चलता। उसी तरह वे योगीगण भी ध्यानसे विचलित नहीं होते थे। इस अनगार भावना अधिकारकी १२० वीं गाथामें उस समयके साधुओंके जो पर्याय नाम दिये हैं वे इस प्रकार हैं :—

समणोत्ति संजदोत्ति य रिसि मुणि साधुत्ति वीदरागोत्ति।
णामाणि सुविहिदाणं अणगार भदंत दंतोत्ति ॥१२०॥

यह सब कथन ग्रन्थकी प्राचीनताका ही द्योतक है।

समयसार नामका अधिकार भी अत्यन्त व्यवस्थित और सूत्रात्मक है। समयसारका अर्थ टीकाकार वसुनन्दीने 'द्वादशांगचतुर्दशपूर्वाणां सारं परमतत्त्वं मूलोत्तरगुणानां च दर्शनज्ञानचारित्राणां शुद्धिविधानस्य च भिक्षाशुद्धेश्च सारभूतं' किया है। जिससे यह स्पष्ट जाना जाता है कि इस अधिकारमें द्वादशांग वाणीका सार खींच कर रक्खा गया है। इसी अधिकारमें आचारांगसे सम्बन्धित गणधर द्वारा तीर्थंकरदेव (भगवान महावीर) से पूछे गये प्रश्नोत्तर वाली दोनों गाथाएँ देकर उनका फल भी बतलाया है :—

कि यत्नपूर्वक आचरण करने वाले दया-प्रेक्षक भिक्षुके नूतन कर्मबन्ध नहीं होता; किन्तु चिरंतन कर्मबन्धन नष्ट हो जाता है।

जदं तु चरमाणस्स दयापेहुस्स भिक्खुणो।
णवं ण बज्झदे कम्मं पोराणं च विधूयदि ॥१२३

इसी अधिकारमें पापश्रमणका लक्षण निर्देश करते हुए बतलाया है कि जो साधु आचार्य-कुलको छोड़कर स्वतन्त्र एकाकी विचरता है, उपदेश देने पर भी ग्रहण नहीं करता, वह साधु पापश्रमण कहलाता है। ६९वीं गाथामें उदाहरण स्वरूप ढोढाचार्य नामक एक ऐसे आचार्यका नामोल्लेख भी किया है। जैसा कि ग्रन्थकी निम्न दो गाथाओंसे प्रकट है :—

आयरिय कुलं मुच्चा विहरदि समणो य जो दु एगागी।
ण य गेण्हदि उवदेसं पावस्समणो त्ति वुच्चदि दु ॥६८
आयरियत्तण तुरिओ पुव्वं सिस्सत्तणं अकाऊणं।
हिंडइ ढुंढायरिओ णिरंकुसो मत्तहत्थिव्व ॥६९

इन गाथाओंसे स्पष्ट है कि उस समय कुछ साधु ऐसे भी पाये जाते थे, जिनका आचार स्वच्छन्द था—वे गुरु-परम्पराकी प्राचीन परिपाटीमें चलना नहीं चाहते थे; किन्तु विवेक शून्य होकर स्वच्छन्द एवं अनर्गल सूत्र विरुद्ध प्रवृत्तिको अहितकर होते हुए भी हितकर समझते थे।

शीलगुणाधिकारमें कुल २६ गाथाएं हैं जिनमें शील-स्वरूपका वर्णन करते हुए शीलके मूलोत्तर भेदोंका वर्णन किया है। जिनका आचारके साथ गहरा सम्बन्ध है।

१२ वें 'पर्याप्ति' नामक अधिकारमें पर्याप्ति और संग्रहणी—सिद्धान्तार्थ प्रतिपादक सूत्रों—का ग्रहण किया गया है। जिनमें पर्याप्ति, देह, संस्थान, काय-इंद्रिय, योनि, आऊ, प्रमाण, योग, वेद, लेश्या, प्रवीचार, उपपाद उद्वर्त्तन, स्थान कुल, अल्पबहुत्व और प्रकृति स्थिति-अनुभाग और प्रदेशबंधरूप सूत्र-पदोंका विवेचन किया है। इस अधिकारमें कुल २०६ गाथाएं पाई जाती हैं। जिनमें उक्त विषयों पर विवेचन किया गया है।

इस अधिकारमें चर्चित गति-आगतिका कथन सारसमय अर्थात् व्याख्या प्रज्ञप्तिमें कहा गया है। 'व्याख्या

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रज्ञप्ति' नामका एक सूत्र ग्रन्थ दिगम्बर सम्प्रदायमें था। जिसका उल्लेख धवला-जयधवला टीकामें पाया जाता है। षट्खण्डागमका 'गति-आगति' नामका यह अधिकार व्याख्याप्रज्ञप्तिसे निकला है + अन्य दूसरे ग्रन्थोंमें भी यह कथन उपलब्ध होता है। इस अधिकारके सम्बन्धमें जो मैंने यह कल्पना पहलेकी थी कि इस अधिकारका कथन आचारशास्त्रके साथ कोई खास सम्बन्ध नहीं रखता, वह ठीक नहीं है; क्योंकि साधुको आचार मार्गके साथ जीवोत्पत्तिके प्रकारों, उनकी अवस्थिति, योनि और आयु-काय आदिका भले प्रकार ज्ञान न हो तो फिर उनकी संयममें ठीक रूपसे प्रवृत्ति नहीं बन सकती, और जब ठीक रूपमें प्रवृत्ति नहीं होगी, तब वह साधु षट्कायके जीवोंकी रक्षामें तत्पर कैसे हो सकेगा। अतः जीवहिंसाको दूर करने अथवा उससे बचनेके लिए उस साधुको जीवस्थान आदिका परिज्ञान होना ही चाहिए। जैसा कि आचार्य पूज्यपाद अपर नाम देवनन्दीकी 'तत्त्वार्थवृत्ति' के और आचार्य वीरनंदीके निम्न वाक्योंसे प्रकट है:—

"ता एताः पंच समितयो विदितजीवस्थानादि विधेर्मुनेः प्राणि-पीडापरिहाराभ्युपाया वेदितव्याः※।"

—तत्त्वार्थवृत्ति-अ० ९, ५.

जीवकर्मस्वरूपज्ञो विज्ञानातिशयान्वितः।
कर्मनोकर्मनिर्मोक्षादात्मा शुद्धात्मतां व्रजेत्॥

—आचारसार-११,१८९

अतः जीवस्थान और उनके प्रकारोंको जाने बिना साधु हिंस्य, हिंसक हिंसा और उसके फल या परिणामसे बच नहीं सकता। उनका परिज्ञान ही उनकी रक्षाका कारण है। अतएव अपनेको अहिंसक बनानेके लिए उनका जानना अत्यन्त आवश्यक है।

इस विवेचनसे स्पष्ट है कि मूलाचारके उक्त अधिकार का वह सब कथन सुसम्बद्ध और सुव्यवस्थित है। आचार्य महोदयने इस अधिकारमें जिन-जिन बातोंके कहनेका उपक्रम किया है उन्हींका विवेचन इस ग्रन्थमें किया गया है। इस कारण इस अधिकारका सब कथन सुव्यवस्थित और सुनिश्चित है और व्याख्याप्रज्ञप्ति जैसे सिद्धान्त ग्रंथसे सार रूपमें गृहीत कथनकी प्राचीनताको ही प्रकट करता है।

इस तरह मूलाचार बहुत प्राचीन ग्रन्थ है। वह दिगम्बर परम्पराका एक प्रामाणिक आचार ग्रन्थ है, आचारांग रूपसे उल्लेखित है। अतः वह संग्रह ग्रन्थ न होकर मौलिक ग्रन्थ है। इस ग्रन्थके कर्ता भद्रबाहुके शिष्य कुन्दकुन्दाचार्य ही हैं। आचार्य कुन्दकुन्दके दूसरे ग्रन्थोंको सामने रख कर मूलाचारका तुलनात्मक अध्ययन करनेसे अनेक गाथाओंका साम्य ज्योंके-त्यों रूपमें अथवा कुछ थोड़ेसे पाठभेदके साथ पाया जाता है। कथन शैलीमें भी बहुत कुछ सादृश्य है जैसा कि मैंने पहले 'क्या कुन्दकुन्द ही मूलाचारके कर्ता हैं※' नामके लेखमें प्रकट किया था।

+ 'वियाह पण्णात्तीदो गदिरागदिणिग्गदा।
धवला भाग १ पृ० १३०

※ देखो, तत्त्वार्थ राजवार्तिक ९-५ पृ० ३२१

※ देखो अनेकान्त वर्ष २ किरण ३ पृ० २२१

—:XXX:—

अनेकान्तके ग्राहकोंसे

अगली किरणके साथ १२वें वर्षके ग्राहकोंका मूल्य समाप्त हो जाता है। आगामी वर्षसे अनेकान्तका मूल्य छः रुपया कर दिया गया है। अतः प्रेमी ग्राहकोंसे निवेदन है कि वे ६) रुपया मनीआर्डरसे भेजकर अनुगृहीत करें। मूल्य मनीआर्डरसे भेज देनेसे उन्हें कमसे कम आठ आनेकी बचत होगी और अनेकान्तका प्रथमाङ्क समय पर मिल सकेगा तथा कार्यालय भी वी० पी० की झंझटोंसे बच जायगा।

मैनेजर 'अनेकान्त'
१ दरियागंज, देहली

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

श्री महावीर जयन्ती

इस वर्ष देहलीमें भगवान महावीरकी जन्म-जयन्तीका उत्सव बहुत ही उत्साहपूर्वक मनाया गया। सब्जीमंडी, सोदीरोड, पहाड़ीधीरज, न्यू देहली और परेडके मैदानमें बनाये हुए विशाल पंडालमें जैनमित्रमंडलकी ओरसे मनाया गया। ता० १६ को पहाड़ी धीरजसे एक विशाल जलूस चाँदनी चौक होता हुआ परेडके मैदानमें पहुँचा और वहाँ भारत सरकारसे निवेदन किया गया कि भगवानकी जन्म-जयंतीकी छुट्टी अवश्य होनी चाहिए। इस वर्ष देहलीकी जनताने अपना सब कारोबार बंद रक्खा। भारत सरकारको चाहिये कि जब उसने दूसरे धर्मवालोंकी जयन्तियोंकी छुट्टी स्वीकृत की। तब अहिंसाके अवतार महावीरकी जन्म जयन्तीकी छुट्टी देना उसका स्वयं कर्तव्य हो जाता है। आशा है भारत सरकार इस पर जरूर विचार करेगी, आगामी वर्ष महावीर जयन्तीकी छुट्टी देकर अनुगृहीत करेगी।

जयन्तीमें अबकी बार अनेक विद्वानोंके महत्वपूर्ण भाषण हुए! उन भाषणोंमें भारतके उपराष्ट्रपति डा० सर राधाकृष्णनका भाषण बड़ा ही गौरवपूर्ण हुआ। आपने अहिंसाकी व्याख्या करते हुए बतलाया कि अहिंसा जैनोंका ही परमधर्म नहीं है बल्कि वह भारतीय धर्म है। अहिंसाकी प्रतिष्ठासे वैर-विरोधका अभाव हो जाता है और आत्मा प्रशान्त अवस्थाको पा लेता है। इसमें सन्देह नहीं महावीरने अपनी अहिंसाकी अमिट छाप दूसरे धर्मों पर जमाई और उन्होंने उसे वैदिक क्रिया काण्डके विरुद्ध स्थान दिया और कहा :—

यूपं बध्वा पशून हत्वा कृत्वा रुधिरकर्दमम्।
यदैव गम्यते स्वर्गे नरके केन गम्यते॥

यज्ञस्तंभसे बांध कर, पशुओंको मारकर और रुधिरकी कीचड़ बहाकर यदि प्राणी स्वर्गमें जाता है तो फिर नरकमें कौनजायगा। अतः हिंसा पाप है, नरकका द्वार है। अहिंसा ही परम धर्म है और उससे ही सुख-शान्ति मिल सकती है आपने अहिंसाके साथ जैनियोंके अनेकांतवाद सिद्धान्तका भी युक्तिपूर्ण विवेचन किया। डा० युद्धवीरसिंहका भाषण भी अच्छा और प्रभावक था। इसतरह महावीर जयन्तीका यह उत्सव भारतके कोने-कोनेमें सोत्साह मनाया गया है।

अभिनन्दन समारोह

ता० १५ अप्रैलको भगवान् महावीरकी जयंतीके शुभ अवसर पर भारतके उपराष्ट्रपति डा० राधा कृष्णननके हाथसे समाज सेविका ब्रह्मचारिणी श्रीमती पंडिता चन्दाबाईजी को उनकी सेवाओंके उपलक्ष्यमें देहली महिला समाजकी ओरसे अभिनन्दन ग्रन्थ भेंटमें दिया गया। श्रीमती ब्रजबालादेवी आराने बाईजीका जीवन परिचय कराया। ता० १६ को भारत वर्षीय दि० जैन महासभाकी ओरसे सर सेठ भागचन्दजी सोनी अजमेरके हाथसे एक अभिनन्दन पत्र भेंट किया गया। उस समय कई विद्वानोंने आपकी कार्यक्षमता और जीवन घटनाओं पर प्रकाश डाला। चन्दाबाईजी जैन समाजकी विभूति हैं, हमारी हार्दिक कामना है कि वे शतवर्ष जीवी हों ताकि समाज और देशकी और भी अधिक सेवा कर सकें।

—परमानन्द जैन शास्त्री

धवलादि सिद्धांत ग्रन्थोंका फोटो

पाठकोंको यह जान कर हर्ष होगा कि वीर-सेवा-मन्दिरके सतत प्रयत्नसे मूडविद्रीके भण्डारमें विराजमान श्रीधवला (तीनों प्रतियाँ), श्री जयधवला तथा महाधवला (महाबन्ध) की ताड़पत्रीय प्रतियोंके फोटो ले लिये गए हैं। वहांके विस्तृत समाचार तथा मूल प्रतियोंके कुछ पृष्टोंके फोटो अगली किरणमें दिए जावेंगे।

इस महान कार्यमें उग्रतपस्वी श्री १०८ आचार्य नमिसागरजी तथा श्री १०५ पूज्य चुल्लक पं० गणेशप्रसाद जी वर्णीके शुभाशीर्वाद प्राप्त हैं।

—राजकृष्ण जैन

वीरसेवामन्दिरको सहायता

खतौली जि० मुजफ्फर नगर निवासी ला० बलवन्तसिंह माम चन्द्रजीने अपने सुपुत्र चि० बा० हेमचन्द्रके शुभ विवाहोपलक्ष्यमें वीरसेवामन्दिरको १०१) रुपया प्रदान किये हैं। इसके लिये दातार महोदय धन्यवादके पात्र हैं।

राजकृष्ण जैन—
व्यवस्थापक वीरसेवा मन्दिर

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वीरसेवामन्दिरके सुरुचिपूर्ण प्रकाशन

(१) पुरातन-जैनवाक्य-सूची—प्राकृतके प्राचीन ६४ मूल-ग्रन्थोंकी पद्यानुक्रमणी, जिसके साथ ४८ टीकादिग्रन्थोंमें उद्धृत दूसरे पद्योंकी भी अनुक्रमणी लगी हुई है। सब मिलाकर २५३५३ पद्य-वाक्योंकी सूची। संयोजक और सम्पादक मुख्तार श्रीजुगलकिशोरजी की गवेषणापूर्ण महत्वकी १७० पृष्ठकी प्रस्तावनासे अलंकृत, डा० कालीदास नागर एम. ए., डी. लिट् के प्राक्कथन (Foreword) और डा० ए. एन. उपाध्याय एम. ए. डी. लिट् की भूमिका (Introduction) से भूषित है, शोध-खोजके विद्वानों के लिये अतीव उपयोगी, बड़ा साइज, सजिल्द (जिसकी प्रस्तावनादिका मूल्य अलगसे पांच रुपये है) १५)

(२) आप्त-परीक्षा—श्रीविद्यानन्दाचार्यकी स्वोपज्ञ सटीक अपूर्वकृति,आप्तोंकी परीक्षा द्वारा ईश्वर-विषयके सुन्दर सरस और सजीव विवेचनको लिए हुए, न्यायाचार्य पं० दरबारीलालजी के हिन्दी अनुवाद तथा प्रस्तावनादिसे युक्त, सजिल्द। ... ... ८)

(३) न्यायदीपिका—न्याय-विद्याकी सुन्दर पोथी, न्यायाचार्य पं० दरबारीलालजीके संस्कृतटिप्पण, हिन्दी अनुवाद, विस्तृत प्रस्तावना और अनेक उपयोगी परिशिष्टोंसे अलंकृत, सजिल्द। ... ... ५)

(४) स्वयम्भूस्तोत्र—समन्तभद्रभारतीका अपूर्व ग्रन्थ, मुख्तार श्रीजुगलकिशोरजीके विशिष्ट हिन्दी अनुवाद छन्दपरिचय, समन्तभद्र-परिचय और भक्तियोग, ज्ञानयोग तथा कर्मयोगका विश्लेषण करती हुई महत्वकी गवेषणापूर्ण १०६ पृष्ठकी प्रस्तावनासे सुशोभित। ... ... २)

(५) स्तुतिविद्या—स्वामी समन्तभद्रकी अनोखी कृति, पापोंके जीतनेकी कला, सटीक, सानुवाद और श्रीजुगलकिशोर मुख्तारकी महत्वकी प्रस्तावनादिसे अलंकृत सुन्दर जिल्द-सहित। ... ... १॥)

(६) अध्यात्मकमलमार्तण्ड—पंचाध्यायीकार कवि राजमल्लकी सुन्दर आध्यात्मिक रचना, हिन्दीअनुवाद-सहित और मुख्तार श्रीजुगलकिशोरकी खोजपूर्ण ७८ पृष्ठकी विस्तृत प्रस्तावनासे भूषित। ... १॥)

(७) युक्त्यनुशासन—तत्त्वज्ञानसे परिपूर्ण समन्तभद्रकी असाधारण कृति, जिसका अभी तक हिन्दी अनुवाद नहीं हुआ था। मुख्तारश्रीके विशिष्ट हिन्दी अनुवाद और प्रस्तावनादिसे अलंकृत, सजिल्द। ... १।)

(८) श्रीपुरपार्श्वनाथस्तोत्र—आचार्य विद्यानन्दरचित, महत्वकी स्तुति, हिन्दी अनुवादादि सहित। ... ।।)

(९) शासनचतुस्त्रिंशिका—(तीर्थपरिचय)—मुनि मदनकीर्तिकी १३ वीं शताब्दीकी सुन्दर रचना, हिन्दी अनुवादादि-सहित। ... ... ।।)

(१० सत्साधु-स्मरण-मंगलपाठ—श्रीवीर वर्द्धमान और उनके बाद के २१ महान् आचार्योंके १३७ पुण्य-स्मरणोंका महत्वपूर्ण संग्रह, मुख्तारश्रीके हिन्दी अनुवादादि-सहित। ... ... ॥)

(११) विवाह-समुद्देश्य -मुख्तारश्रीका लिखा हुआ विवाहका सप्रमाण मार्मिक और तात्त्विक विवेचन ... ॥)

(१२) अनेकान्त-रस लहरी—अनेकान्त जैसे गूढ़ गम्भीर विषयको अबती सरलतासे समझने-समझानेकी कुंजी, मुख्तार श्रीजुगलकिशोर-लिखित। ... ... ।)

(१३) अनित्यभावना—आ० पद्मनन्दी की महत्वकी रचना, मुख्तारश्रीके हिन्दी पद्यानुवाद और भावार्थ सहित ।)

(१४) तत्त्वार्थसूत्र—(प्रभाचन्द्रीय)—मुख्तारश्रीके हिन्दी अनुवाद तथा व्याख्यासे युक्त। ... ।)

(१५) श्रवणबेल्गोल और दक्षिणके अन्य जैनतीर्थ क्षेत्र—ला० राजकृष्ण जैनकी सुन्दर सचित्र रचना भारतीय पुरातत्व विभागके डिप्टी डायरेक्टर जनरल डा०टी०एन० रामचन्द्रनकी महत्व पूर्ण प्रस्तावनासे अलंकृत १)

नोट—ये सब ग्रन्थ एकसाथ लेनेवालोंको ३८॥) की जगह ३०) में मिलेंगे।

व्यवस्थापक 'वीरसेवामन्दिर-ग्रन्थमाला'
वीरसेवामन्दिर, १ दरियागंज, देहली

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

रखते हैं। सभी तांत्रिक, पौराणिक और जैनसाहित्यमें इनकी मान्यता सुरक्षित है। भारतीय अनुश्रुति-अनुसार ये मृत्युको हिलानेवाले घोर तपस्वी ग्यारह महायोगियोंके नाम हैं। महाभारतमें† इनके नाम निम्न प्रकार बतलाए गए हैं—१ मृगव्याध, २ सर्प, ३ निऋति, ४ अजैकपाद्, ५ अहिर्बुध्न्य ६ पिनाकी, ७ दहन, ८ ईश्वर, ९ कपाली १० स्थाणु, ११ भग। इसमेंसे अजैकपाद, अहिर्बुध्न्य, भग, स्थाणु आदि कई रुद्रोंका उपरोक्त नामोंसे ऋग्वेदके कितने ही सूत्रोंमें बखान किया गया है। ये देवता आर्य-जनने इलावर्त और सप्तसिन्धु देशमें प्रवेश होनेके साथ ही साथ वहाँके निवासी यक्ष और गन्धर्व जातियोंसे ग्रहण किये हैं। इस तरह यद्यपि भारत - प्रवेशके साथ इनके देवता-मण्डलमें 'आत्मा' नामके देवताका समावेश जरूर हो गया, पर अभी आत्मीय वस्तु न होकर देवता ही बना रहा। इस 'आत्मा' देवताको आत्मीय तत्त्वमें प्रवृत्त करनेमें आर्यजनको बहुत-सी मंजिलोंमेंसे निकलना पड़ा है।

बहुदेवतावादका ह्रास—

इस बढ़ती हुई संख्याके साथ ही साथ देवतावादका ह्रास भी शुरू हो गया और यह एक स्वाभाविक प्रवृत्ति थी। आखिर बुद्धि इन देवताओंके अव्यवस्थित भारको कब तक सहन करती। जहाँ शिशु-जीवन विस्मयसे प्रेरा हुआ, सामान्यसे विशेषताकी ओर, एकसे अनेकताकी ओर छटपटाता है, वहाँ सन्तुष्टि-लाभ होने पर प्रौढ़ हृदय बाहुल्यता और विभिन्नतासे हटकर एकता और व्यवस्थाकी राह ढूंढ़ता है। स्वभावतः बुद्धिमें किसी एक ऐसे स्थायी, अविनाशी, सर्वव्यापी सत्ताकी तलाश करनी शुरू की जिसमें तमाम देवताओंका समावेश हो सके। शंका ही दर्शनशास्त्रकी जननी है, इस उक्तिके अनुसार एकताका दर्शन होनेसे पहले इन देवताओंके प्रति ऋषियोंके मनमें अनेक प्रकारकी शंकाएँ पैदा होना शुरू हुईं।

"ये आकाशमें घूमनेवाला सप्तऋषिचक्र दिनके समय कहाँ चला जाता है? ?"

"द्यु और पृथ्वीमें पहले कौन पैदा हुआ कौन पीछे? ये किसलिए पैदा हुए, यह बात कौन जानता है (२) ?"

"इन विभक्त देवोंमें वह कौनसा देवाधिदेव है जो सबसे पहले पैदा हुआ जो सब भूतोंका पति है, जो द्यु और पृथ्वीका आधार है, जो जीवन और मृत्युका मालिक है, इनमेंसे हम किसके लिये हवि प्रदान करें३ ?"

"जिस समय अस्थिरहित प्रकृतिने अस्थियुक्त संसारको धारण किया, उस समय प्रथम उत्पन्नको किसने देखा था। मान लो पृथ्वीसे प्राण और रक्त उत्पन्न हुए परन्तु आत्मा कहाँ से पैदा हुआ। इस रहस्यके जानकारके पास कौन इस विषयकी जिज्ञासा लेकर गया था४ ?"

इस उठती हुई शंका लहरीने इन्द्रको भी अछूता न छोड़ा। होते-होते वैदिक ऋषि अपने उस महान् देवता इंद्र के प्रति भी सशंक हो उठे५। जो सदा देवासुर और आर्य-दस्युसंग्रामोंमें आर्यगणका अग्रणी नायक बना रहा। जिसने वृत्रको मारकर सप्तसिन्धु देश आर्य-जनके बसनेके लिये युद्ध कराया, जिसने दस्युओंका विध्वंस करके उनके दुर्ग, नगर, धन, सम्पत्ति, आर्यजनमें वितरण की, जो अपने उक्त पराक्रमके कारण महाराजा, महेन्द्र, विश्वकर्मा आदि नामोंसे विख्यात हुआ६।

एक देवतावादकी स्थापना—

यह प्रश्नावली निरन्तर उन्हें एक देवतावादकी ओर प्रेरणा दे रही थी। आखिरकार भीतरसे यह घोषणा सुनाई देने लगी—

इन्द्रं वरुणं मित्रमग्निमाहरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहु ॥

॥ ऋग्-१ १६४-४६

मेधावी लोग जिसे आज तक इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि आदि अनेक नामोंसे पुकारते चले आये हैं वह एक अलौकिक सुन्दर पक्षी के समान (स्वतन्त्र) है। वह अग्नि, यम, मातरिश्वा आदि अनेक रूप नहीं है। वह तो एक रूप है। इस भावनाके परिपक्व होने पर अनेक देवताओंकी जगह यह एक देवता संसारकी समस्त शक्तियोंका सृष्टा वा संचालक बन गया।

† महाभारत आदिपर्व ६६, ८, ३।
(१) ऋग् १ २४-१०, (२) ऋग १-१८५-१,
(३) कस्मै देवाय हविषा विधेम—ऋग १०-१२१,
(४) ऋग. १-१६४-४, (५) ऋग १० ८६-१-२-१२-५,
(६) इन्द्रके इस विवेचनके लिये देखें 'अनेकान्त' वर्ष ११ किरण २ में लेखकका मोहनजोदड़ों कालीन और आधुनिक जैनसंस्कृति "शीर्षक लेख।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

Regd. No. D. 211

अनेकान्तके संरक्षक और सहायक

संरक्षक

१५००) बा० नन्दलालजी सरावगी, कलकत्ता
२५१) बा० छोटेलालजी जैन सरावगी ,,
२५१) बा० सोहनलालजी जैन लमेचू ,,
२५१) ला० गुलजारीमल ऋषभदासजी ,,
२५१) बा० ऋषभचन्द (B.R.C. जैन ,,
२५१) बा० दीनानाथजी सरावगी ,,
२५१) बा० रतनलालजी झांझरी ,,
२५१) बा० बल्देवदासजी जैन सरावगी ,,
२५१) सेठ गजराजजी गंगवाल ,,
२५१) सेठ सुआलालजी जैन ,,
२५१) बा० मिश्रीलाल धर्मचन्दजी ,,
२५१) सेठ मांगीलालजी ,,
२५१) सेठ शान्तिप्रसादजी जैन ,,
२५१) बा० विशनदयाल रामजीवनजी, पुरलिया
२५१) ला० कपूरचन्द धूपचन्दजी जैन, कानपुर
२५१) बा० जिनेन्द्रकिशोरजी जैन जौहरी, देहली
२५१) ला० राजकृष्ण प्रेमचन्दजी जैन, देहली
२५१) बा० मनोहरलाल नन्हेंमलजी, देहली
२५१) ला० त्रिलोकचन्दजी, सहारनपुर
२५१) सेठ छदामीलालजी जैन, फीरोजाबाद
२५१) ला० रघुवीरसिंहजी, जैनावाच कम्पनी, देहली
२५१) रायबहादुर सेठ हरखचन्दजी जैन, रांची
२५१) सेठ बधीचन्दजी गंगवाल, जयपुर

सहायक

१०१) बा० राजेन्द्रकुमारजी जैन, न्यू देहली
१०१) ला० परसादीलाल भगवानदासजी पाटनी, देहली
१०१) बा० लालचन्दजी बी० सेठी, उज्जैन
१०१) बा० घनश्यामदास बनारसीदासजी, कलकत्ता
१०१) बा० लालचन्दजी जैन सरावगी ,,
१०१) बा० मोतीलाल मक्खनलालजी, कलकत्ता
१०१) बा० बद्रीप्रसादजी सरावगी, ,,
१०१) बा० काशीनाथजी, ... ,,
१०१) बा० गोपीचन्द रूपचन्दजी ,,
१०१) बा० धनंजयकुमारजी ,,
१०१) बा० जीतमलजी जैन ,,
१०१) बा० चिरंजीलालजी सरावगी ,,
१०१) बा० रतनलाल चांदमलजी जैन, राँची
१०१) ला० महावीरप्रसादजी ठेकेदार, देहली
१०१) ला० रतनलालजी मादीपुरिया, देहली
१०१) श्री फतेहपुर जैन समाज, कलकत्ता
१०१) गुप्तसहायक, सदर बाजार, मेरठ
१०१) श्री शीलमालादेवी धर्मपत्नी डा०श्रीचन्द्रजी, एटा
१०१) ला० मक्खनलाल मोतीलालजी ठेकेदार, देहली
१०१) बा० फूलचन्द रतनलालजी जैन, कलकत्ता
१०१) बा० सुरेन्द्रनाथ नरेन्द्रनाथजी जैन, कलकत्ता
१०१) बा० वंशीधर जुगलकिशोरजी जैन, कलकत्ता
१०१) बा० बद्रीदास आत्मारामजी सरावगी, पटना
१०१) ला० उदयराम जिनेश्वरदासजी सहारनपुर
१०१) बा० महावीरप्रसादजी एडवोकेट, हिसार
१०१) ला० बलवन्तसिंहजो, हांसी जि० हिसार
१०१) कुँवर यशवन्तसिंहजी, हांसी जि० हिसार
१०१) सेठ जोखीराम बैजनाथ सरावगी, कलकत्ता
१०१) श्री ज्ञानवतीदेवी ध.०
वैद्य आनन्ददास देहली
१०१) बाबू जिनेन्द्रकुमार जैन, सहारनपुर
१०१) वैद्यराज कन्हैयालालजी चाँद औषधालय, कानपुर
१०१) रतनलालजी जैन कालका वाले देहली

अधिष्ठाता 'वीर-सेवामन्दिर'
सरसावा, जि० सहारनपुर

प्रकाशक—परमानन्दजी जैन शास्त्री १, दरियागंज देहली। मुद्रक—रूप-वाणी प्रिंटिंग हाउस २३, दरियागंज, देहली

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org